दशकुमारचरितम् के सामाजिक एवं आर्थिक पक्षों का समालोचनात्मक अध्ययन



बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी (उ०प्र०)

विद्यावारिधि (पी-एच.डी.)
शोधोपाधि के लिए
प्रस्तुत



शोध-प्रबन्ध

卐 2006 卐

निर्देशक
डॉ . मुरली मनोहर द्विवेदी
प्रवक्ता संस्कृत विभाग
महामति प्राणनाथ महाविद्यालय मऊ–चित्रकूट
सम्बद्ध बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,
झाँसी (उ0प्र0)

शोधकर्त्ता
बालेन्द्र शेखर मिश्र
आत्मज–श्री भपूनारायण मिश्र
बरगढ़–चित्रकूट (उ0प्र0)

शोध-केन्द्र
अतर्रा महाविद्यालय, अतर्रा (बाँदा)

APPENDIX-4

CERTIFICATE OF THE SUPERVISOR (PARA 12C)

CERTIFICATE

This is to certify that the work entitled "दशकुमारचरितम् के सामाजिक एवं आर्थिक पक्षों का समालोचनात्मक अध्ययन" is a piece of research work done by Shri/Smt./Ku बालेन्द्र शेखर मिश्र under my (our)guidance & supervision for the degree of Doctor of Philosophy of संस्कृत University, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी India. That the candidate has put-in an attendance of more than 200 days with me.

To the best of my knowledge & belief the thesis :

(i) embodies the work of the candidate himself/herself;

(ii) has duly been completed;

(iii) fulfills the requirements of the Ordinance relating to the Ph.D. degree of the University; and

(iv) is upto the standard both in respect of contents and language for being referred to the examiner.

Signature of the Supervisor
डॉ० मुरली मनोहर द्विवेदी

APPENDIX-3

DECLARATION BY THE CANDIDATE (PARA 12B)

I declare that the thesis entitled "दशकुमारचरितम् के सामाजिक एवं आर्थिक पक्षों का समालोचनात्मक अध्ययन" is my own work conducted under the supervision of डॉ० मुरली मनोहर द्विवेदी (Supervisor/ Co-supervisor) at महामति प्राणनाथ महाविद्यालय मऊ-चित्रकूट सम्बद्ध बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी Centre अतर्रा महाविद्यालय, अतर्रा (बांदा) approved by Research Degree Committee. I have put in more than 200 days of attendance with supervisor at the centre.

I further declare that to the best of my knowledge the thesis does not contain any part of any work which has been submitted for the award of any degree either in this University or in any other University/Deemed University without proper citation.

बालेन्द्र शेखर मिश्र
Signature of the Candidate
बालेन्द्र शेखर मिश्र

प्रस्तावना

भारतीय वाङ्मय में संस्कृत साहित्य का विशिष्ट स्थान है। इस भाषा में लिखे गये काव्य प्राणिजगत् को व्याह्लादित करने वाले होते हैं। इनके माध्यम से मानव कुछ भी प्राप्त करने में समर्थ होता है। भारतीय संस्कृति का प्राण आध्यात्मिक भावना है। त्याग से अनुप्राणित, तपस्या से पोषित तथा तपोवन में संवर्धित भारतीय संस्कृति का रमणीय आध्यात्मिक रूप संस्कृतभाषा के ग्रन्थों में अपनी सुन्दर झाँकी दिखलाता हुआ सहृदयों के हृदय को बरबस खींचता है। महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास, कालिदास तथा भवभूति, बाण तथा दण्डी पाठकों की हृदयकली को विकसित करने वाले मनोरम काव्य की रचना के कारण जितने मान्य हैं, उतने ही वे भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप के चित्रण करने के कारण आदरणीय हैं। संस्कृत–कवि को राजा–महाराजाओं के दरबार की हवा खानेवाला चापलूस जीव मानने की भ्रान्त धारणा साहित्य के ऊपरी आलोचकों में भले फैली रहे, परंतु संस्कृतभाषा का कवि संकीर्ण विचारों का व्यक्ति न था, जो अपने परिमित विचारों की कोठरी में अपना दिन बिताया करता था। वह समाज के विशुद्ध वातावरण में विचरण करता था, समाज के सुख–दु:ख की भावना उसके हृदय को स्पर्श करती थी; वह दीन–दु:खियों की दीनता पर चार ऑसू बहाता था वह सुखी जीवों के सुख के ऊपर रीझता था। वह भारतीय समाज का ही एक प्राणी था, जिसका हृदय सहानुभूति की भावना से नितान्त स्निग्ध होता था। वह अपने काव्यों में जनता के हृदय की बातों का, प्रवृत्तियों का जितना वर्णन करता था उतना ही वह अपने देश की संस्कृति के भी मूल्यवान् आध्यात्मिक विचारों को अपने काव्यों में अंकित करता था। भारतीय संस्कृति का निखरा रूप हमें संस्कृत–भाषा में निबद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति का प्रचार तलवार के सहारे नहीं हुआ; कलम के सहारे हुआ। आज भी उस देश की सभ्यता तथा संस्कृति के गठन में संस्कृत साहित्य का विशेष हाथ है। संस्कृति और सभ्यता को पोषित करने वाली भाषा संस्कृत ही है।

आचार्यदण्डी के दशकुमारचरितम् में मानवता की झाँकी प्रस्तुत की गयी है। दसों कुमार राजकुमार राजवाहन से वियुक्त हो जाने के पश्चात् भी पुनर्मिलन की आशा संजोये इतस्तत: भ्रमणशील रहते हैं और अंत में उन्हें उसका परिणाम प्राप्त होता है। मालवेश और राजहंस जंगल में जाकर पराजित होने के पश्चात् भगवान् भूतभावन शंकर का यजन समारम्भ कर दिये । वस्तुत: जीव को जब पराजय का मुख देखना पड़ता है, तब वह ईश्वर की शरण ग्रहण करता है। जीव को भगवान् के चरणारविन्द में अपना सर्वस्व समर्पण करना होता है। दु:ख तथा सुख ; हेय तथा उपादेय; मृत्यु तथा अमृतत्व इन सबका समर्पण अनन्त ब्रह्माण्डनायक भगवान् के चरणों में करने से ही जीव का परम कल्याण सम्पन्न होता है। यज्ञ आत्म–बलिरूप है। उसके द्वारा मलिन अंश का त्याग कर शुद्ध अंश का ग्रहण किया जाता है। अन्तत: विशुद्ध सत्व में आत्मा प्रतिष्ठित होता है। यज्ञ की चरम आहुति या पूर्णाहुति ग्रहण करने की क्षमता न तो किसी लौकिक अग्नि में है, और न किसी अलौकिक अग्नि में ही; यह तो विशुद्ध अमृत है। एकमात्र ब्रह्माग्नि में–विशुद्ध चैतन्य रूप अग्नि में–ही उस परम अमृत के धारण करने की क्षमता है। उसमें अग्नि और सोम एकाकार होते हैं। चैतन्य और आनन्द का पूर्ण सामरस्य हो जाता है। शिव तथा शक्ति की पूर्ण समरसता उल्लसित हो उठती है। कामेश्वर तथा कामेश्वरी का अभिन्न आलिङ्गन, जो शाक्तागमों का अन्तिम लक्ष्य है उसी समय सम्पन्न होता है। इसी का नाम परिपूर्ण सत्य है।

भक्त भगवान् के चरणारविन्द में अपने आपको लुटा देने में ही जीवन की सार्थकता मानता है। संसार की क्लेशभावना जीवों को तभी तक कलुषित तथा सन्तप्त बनाती है, जब तक वह भगवान् का निजी सेवकजन नहीं बन जाता, तभी तक रागादिक चोर के समान सन्तापदायक हैं, यह गृह कारागृह है और यह मोह तभी तक पैरों की बेड़ी है, जब तक जीव 'भवदीय' नहीं बनता। भगवज्जन होते ही मोह की बेड़ी खुल जाती है और जीव ज्ञान की मीठी स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है :–

तावद् रागादय: स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जना:।।

भारतवर्ष के मूलरूप को जानने की बलवती इच्छा ने ही शोधकार्य करने को प्रेरित किया। यद्यपि मूलरूप जानना मुझ जैसे तुच्छ प्राणी के वश की बात नहीं है, परन्तु इच्छादमन का उपाय तो अन्वेषित करना ही चाहिए। इसी कामना को लेकर दशकुमारचरितम् को शोधविषय बनाना पड़ा, क्योंकि यह एक प्राचीनग्रन्थ होने के साथ–साथ तत्कालीन समाज एवं संस्कृति की शिक्षा देने में समर्थ है। मानव की प्रकृति स्वभावतः कौतुक तथा विस्मय की ओर आकृष्ट होती है। नित्यप्रति व्यावहारिक जीवन से, परिचित कार्यकलाप से जहाँ कुछ भी नवीनता तथा विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है, वही विस्मय की उद्गमभूमि है। भारतवर्ष के विविधरंगी वातावरण में विस्मय का स्थान तथा प्रसार बहुत ही अधिक है। प्राची क्षितिज पर सुनहली छटा छिटकाने वाली तथा प्रभापुञ्ज को विखेरने वाली उषा का दर्शन जैसा आश्चर्य दर्शक के हृदय में उत्पन्न करता है, वैसा ही विस्मय उत्पन्न करता है नैश–नील–नभोमण्डल में रजतरश्मियों को बिखेरनेवाले तथा नेत्र में शीतलतामयी छटा फैलानेवाले शीतरश्मि का उदय। दोनों ही कौतुकावह हैं, विस्मयवर्द्धक हैं।

वास्तव में दशों कुमारों का चरित्र बड़ा ही उदात्त है। जब एक दूसरे से मिलते हैं तो अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। उनका जीवन संकटों से भरा हुआ होता है, परन्तु वे कभी पराजय की कल्पना भी नहीं करते। तमाम झंझावातों को सहकर भी सहिष्णुता का त्याग नहीं करते। प्रस्तुत ग्रन्थ में नये तरीके से कथानक को संजोया गया है। आह्लाद और विस्मय के मध्य तैराक की भांति आनन्द की लहरों में गोते लगाते रहने पर शरीर एवं मन कभी क्लान्त नहीं होता। कभी पर्वत से गिरना, कभी ऐन्द्रजालिक का जादू देखना, कभी युद्ध में रत रहना, कभी वेश्या के द्वारा ऋषियों को ठगा जाना तो कभी संवेदना व्यक्त करना आदि घटनाएँ मानव को अनुरंजित कर देती हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को सात अध्यायों में विभक्त कर शोधकार्य प्रारम्भ किया। प्रथम अध्याय में 'गद्यकाव्य परम्परा' द्वितीय अध्याय में ''आचार्यदण्डी का सामान्य परिचय'' तृतीय अध्याय में 'आलोच्य ग्रन्थ में वस्तु विश्लेषण', चतुर्थ अध्याय में 'सामाजिक

पक्ष का विश्लेषण', पञ्चम अध्याय में 'आर्थिक पक्ष का विश्लेषण', षष्ठ अध्याय में 'काव्यशास्त्रीय पक्ष और सप्तम अध्याय में 'प्रमुख वैशिष्ट्य' का विवचेन किया गया है। इस देववाणी का अध्ययन सामान्य मानव के वश की बात नहीं है, परन्तु बलवती जिज्ञासा के कारण यह दु:साहस करना पड़ा। इसमें जो अच्छाइयाँ हों वे गुरुजनों की समझी जायें और जो बुराइयाँ हों वे शोधार्थी की मानी जाँय।

इस कार्य में आशी: एवं सहयोग प्रदान करने वाले अभीष्ट जनों एवं शुभचिंतकों के आभार ज्ञापन की शृंखला में प्रथमत: मैं अपनी पूजनीया माता और पूजनीय पिता श्री के आशी: का आभार ज्ञापित करता हूँ, जिनके पुण्यकर्मों का फल हमें मिला और मैं दशकुमारचरितम् जैसे विषय पर शोध कार्य करने का साहस जुटा सका, किन्तु गुरुकृपा के बिना यह कार्य करना असंभव था, इसके लिए मैं प्रात: स्मरणीय, सकलशास्त्रपारावरीणं, निगमागमपारदृष्वा अज्ञानान्धकार में ज्ञानाञ्जनशलाकावत्, गुरुवर **डॉ० मुरली मनोहर** द्विवेदी जी को प्रहर्षित मन से कोटिश: नमन करते हुए आभार ज्ञापित करता हूँ, जिनकी निस्सीम कृपा से मैं शोधकार्य में इस परिणति तक पहुँचा। इसके लिए गुरुदेव को जितने बार नमन किया जाय और साधुवाद दिया जाय उतना ही कम है। फिर भी धृष्टतावश इस श्लोक के माध्यम से पुन: गुरुदेव को नमन करता हूँ –

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ।।

शोध निर्देशक के अतिरिक्त जिन गुरुओं का मुझे मार्गदर्शन प्राप्त हुआ उनमें सर्व प्रथम प्रो० राजाराम दीक्षित, सं० विभागाध्यक्ष अतर्रा, डॉ० ओंकार प्रसाद मिश्र, प्रो० नमिता अग्रवाल जैसे सुयोग्य गुरुओं के सहयोग को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता जिनके मार्ग दर्शन बिना यह कार्य टेढ़ी खीर था। मैं इन सभी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इसके अतिरिक्त अंशकालिक रूप में मुझे जिन गुरुओं का मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ उनमें से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के गुरुजी डॉ० शंकर दयाल द्विवेदी तथा महामति प्राणनाथ महाविद्यालय मऊ, चित्रकूट के प्राचार्य डॉ० आर०के० शर्मा जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने स्नातक स्तर में ही इस काव्य के प्रति रुचि उत्पन्न कर शोध कार्य करने की प्रवृत्ति को जन्म दिया।

मित्रों में सर्व प्रथम मैं अपने बचपन के अभिन्न मित्र श्री भूपेन्द्र मणि पाण्डेय को स्मरण एवं नमन करता हूँ जिन्होंने मुझे मोह निद्रा से जगाकर शोध कार्य करने हेतु उत्प्रेरित किया। इसी क्रम में श्री नरेन्द्र कुमार गर्ग को मैं साधुवाद देता हूँ । इन सबके अतिरिक्त मैं डॉ० बृजेश नाथ ओझा विभागाध्यक्ष, 'संस्कृत विभाग' श्रीयुत महाविद्यालय, गंगेव को अन्तर्मन से स्मरण करता हूँ।

जिस प्रकार सब कुछ विद्यमान होते हुए भी प्रकाश के बिना कुछ नहीं दिखाई देता उसी प्रकार टंकण कार्य के अभाव में मेरा यह सारा प्रयास भी प्रस्तुत न हो पाता अत: इसके लिऐ मैं प्रीति कम्प्यूटर सेन्टर रीवा के संचालक एवं शोध प्रबंध के टंकण कार्य प्रभारी श्री रामलखन विश्वकर्मा जी को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने विश्वकर्मा की तरह द्रुत गति से इस कार्य को समय पर पूर्ण करके प्रस्तुत किया।

****

दशकुमारचरितम् के सामाजिक एवं आर्थिक पक्षों का समालोचनात्मक अध्ययन

विषय सूची

प्रथम अध्याय

संस्कृत में गद्य काव्य परम्परा

(क) (1) वैदिक वाङ्मय :-

सनातनधर्म के आधार स्तम्भ ग्रन्थ वेद ही हैं। वेदों से ही हमें सुमार्ग पर चलने की प्रेरणा सम्प्राप्त होती है। विश्वसाहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद ही हैं। पुरातनकाल में ऋषियों, महर्षियों ने अपनी प्रतिभा दृष्टि से जिस ज्ञानराशि का साक्षात्कार किया, उसे ही वेद कहा जाता है। संसार के प्रत्येक तत्त्व का ज्ञान वेदों से ही संभव है -

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ।।

वैयाकरणों ने अपनी (व्याकरण की) दृष्टि से वेद शब्द को चार धातुओं से निष्पन्न बताया है। उनके अनुसार-

"विद्-ज्ञाने, विद्-सत्तायाम्, विद्लृ-लाभे तथा विद्-विचारणे।"

उपर्युक्त चारों अर्थों का समन्वय करते हुए महर्षि दयानन्द ने वेद का निर्वचन निम्नानुसार किया है-"विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, अथवा विद्यन्ते लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुजाः सत्यविद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः"- अर्थात् जिनसे मनुष्य समाज ज्ञान प्राप्त करें, सत्य का साक्षात्कार करें या उसका विचार करें वे वेद हैं। इस तरह वेद का मुख्य अर्थ हुआ=ज्ञान।

श्रुति की दृढ़ आधारशिला के ऊपर भारतीय धर्म तथा सभ्यता का भव्य विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित है । हिन्दुओं के आचार विचार, रहन-सहन तथा धर्म-कर्म को भली-भाँति समझने के लिए वेदों का ज्ञान आवश्यक है । लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार, वस्तुओं के रहस्य को जानने के लिए वेद की उपादेयता है ।

अब हमें गद्य परम्परा की ओर अग्रसर होना है । वेद के माहात्म्य को प्रदर्शित करने वाले गद्य से ही विषयोन्मुख क्यों न हुआ जाय? तो 'शतपथ-ब्राह्मण' का उद्घोष है कि- धन से परिपूर्ण पृथिवी के दान करने से जितना फल होता है, वेदों के अध्ययन से भी उतना ही फल मिलता है, उतना ही नहीं; प्रत्युत उससे भी बढ़कर अविनाशशाली अक्षय्यलोक को मनुष्य प्राप्त करता है-

"यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन ददत् लोकं जयति त्रिभिस्तावन्तं जयति; भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ।"[1]

इस प्रकार गीर्वाणवाणी का समवतरण वेद रूप में होता है और वही समस्त प्राणियों के लिये कल्याणकारी है । संसार का हर प्राणी कहीं न कहीं वेद में निर्दिष्ट ज्ञान को अपने अन्तस्तल से स्वीकार करता है । क्योंकि वह जानता है कि इसके बिना ऐकान्तिक सुख नहीं मिल सकता है । वेद छन्दोमयी भाषा में एवं गद्यात्मक भाषा में दृष्टिगत होते

---

1. शत0 – 11/5/6/1

है । उसकी दूसरी (गद्यात्मक) भाषा का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

देववाणी (संस्कृत भाषा) में गद्य की एक सुसम्पन्न परम्परा वैदिक काल में ही आरम्भ हो गयी थी । बल्कि यों कहा जाय कि 'आर्य जाति के साहित्य में गद्य का प्रथम अवतार हमारी देववाणी में ही हुआ' तो अतिशयोक्ति नहीं होगा । हमें गद्य का प्रथम दर्शन वैदिक संहिताओं में ही होता है । गद्य से मिश्रित होने के कारण ही कृष्णयजुर्वेद का कृष्णत्व है । प्राचीतम गद्य का उदाहरण हमें इस वेद की तैत्तिरीय-संहिता में उपलब्ध होता है । इस संहिता में गद्य भाग पद्य की अपेक्षा मात्रा में कथमपि न्यून नहीं है । इस वेद की अन्य संहिताओं-जैसे काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता आदि में भी गद्य की सत्ता उसी मात्रा में है । कालक्रम में कुछ उतरकर अथर्ववेद का गद्य है । अथर्ववेद का छठा भाग गद्यात्मक ही है ।[1] समग्र ब्राह्मण साहित्य की रचना गद्यरूप में ही है । यज्ञों के वर्णनात्मक होने से इसका प्रयोग उचित ही है । आरण्यकों में भी गद्य की प्रचुरता है । प्राचीन उपनिषद् भी गद्यात्मक ही हैं । इस तरह वैदिक वाङ्मय गद्य से सुसम्पन्न है ।

वैदिक गद्य दो धाराओं में प्रवाहित होता है- एक है- अनुष्ठानोपयोगी तथा याज्ञिक विधियों का प्रतिपादक एवं दूसरा है- चिंतन एवं ऊहापोह को व्यक्त करने वाला । प्रथम प्रकार का दर्शन यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में होता है-एवं दूसरे

---

1. सं. सा० का इति०, वल्देव उपाध्याय पृष्ठ – 376

प्रकार का दर्शन ब्राह्मणों व उपनिषदों में होता है । यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थों का गद्य वेदमन्त्रों के समान स्वर चिन्हांकित हैं तथा इसका पाठ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों का प्रयोग करके किया जाता है ।

वेद के कुछ गद्य उद्धरण यहां पर प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जो एक दिशा निर्देश करते हैं कि वैदिक वाङ्मय में गद्यविधा किस शैली में प्रयुक्त की गयी है और वह किस तरह सरसता से युक्त है । भारतीय परम्परा के अनुसार चौदह विद्याओं का अध्यापन पुरातन काल में किया जाता था । उसी से सन्दर्भित "वाकोवाक्य" विद्या भी है । गोपथ ब्राह्मण में निम्नवत् दर्शाया गया है- "सवितर्क ज्ञानमयमित्येतैः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्च यथार्थ पदमनुविचिन्त्य प्रकरणज्ञो हि प्रबलो विषयी स्यात् सर्वस्मिन् वाकोवाक्य इति ब्राह्मणम् ।"[1]

इसी तरह जब किसी राजा का राज्याभिषेक होता था तो उस समय उसे कुछ प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती थी, उनमें से एक राजनीतिक दृष्टि से बहुमूल्य प्रतिज्ञा इस प्रकार है-"यां च रात्रिमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेण इष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृंजीथा यदि ते द्रुह्येयमिति ।।"[2]

अर्थात् जिस रात को मै पैदा हुआ तथा जिस रात को मैं मरूँगा इन दोनों के बीच में जितने यज्ञीय अनुष्ठान मैंने किये हैं, उनसे तथा स्वर्गलोक, अपने जीवन, अपनी सन्तान से वंचित हो जाऊँ, यदि मैं तुमसे द्रोह करूँ । इस प्रतिज्ञा

---

1. गो0 ब्रा0 -1/1/3
2. ऐ0 ब्रा0 - 8/3/15

के सम्पन्न हो जाने पर पुरोहितगण राजा का अभिषेक किया करते थे ।

वैदिक परम्परा में ''अग्नि'' को प्रधान देवता माना जाता था । ऋग्वेद के प्रथम ऋचा में ''अग्निदेवता'' का ही स्तवन किया गया है । अग्नि के ही विविध रूप आगे चलकर वेदों में ही देखने को मिलते हैं । 'शतपथ' ब्राह्मण में रुद्र को अग्नि का प्रतीक मानकर एक स्तुति की गयी है जो निम्नानुसार है - ''अग्निर्वै स देवः तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षन्ते । भव इति यथा वाहीकाः । पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति; तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामानि,अग्निरित्वेन शान्ततमम् ।।''[1]

वैदिक आख्यानों के अन्तर्गत उपनिषद् भी समाहित हैं, अतः कुछ उदाहरण उपनिषद् के भी दिये जा रहे हैं । 'केनोपनिषद्' में ब्रह्म अनुभवगम्य है इसको समझाते हुए कहा गया है कि - वहां न तो नेत्र जाते, न वाणी जाती, न मन जाता पुनरपि वह सत्तावान् है और केवल एक वही सत्य भी है- ''न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्वयाचचक्षिरे ।।''[2]

जब आचार्य अपने और शिष्य के अभ्युदय की कामना प्रकट करता है और उपासना विधि का वर्णन प्रस्तुत करता है तबका एक मन्त्र द्रष्टव्य है-''सह नो यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथातः संहितायां उपनिषदं व्याख्यास्यामः ।

---

1. शतपथ ब्राह्मण -1/7/3/8
2. केन उप0 - 1/3

पंचस्वधिकरणेषु । अधिलोकमधिज्योतिषमधिविद्यामधिप्रजमध्यात्मम्. ता महासंहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृथिवीपूर्वलोकम् । द्यौरुत्तररुपम् । आकाशः सन्धिः । वायुः संधानम् । इत्यधिलोकम् ।।"[1]

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय गद्यविधा से मण्डित है और लोगों को आह्लाद प्रदान करने में समर्थ हैं । इस आह्लादमयी एवं पावन गद्य का स्वाध्याय करने से प्राणी समस्त दुःखों से छुटकारा प्राप्त करके ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है । जहां पहुँचने पर जन्म-मृत्यु के चक्रवत् चक्कर से विमुक्ति प्राप्त करता है । ऐसा सरस और हृदयावर्जक गद्य साहित्य वैदिक वाङ्मय के अनन्तर अन्यत्र कहाॅ देखने को मिल सकता है । यही पावन वैदिक साहित्य प्राणियों के उद्धारक हैं ।

---

1. तै0 उप0 - तृतीय अनुवाक ।

2. लौकिक वाङ्मय :-

लौकिक वाङ्मय का क्रम वैदिक वाङ्मय के पश्चात् आता है । जिस तरह वैदिक साहित्य गद्यविधा से परिपूर्ण है, तद्वद् लौकिक साहित्य भी परिपूर्ण है । वास्तव में गद्यविधा पद्यविधा से अधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं । तभी तो कहा गया है कि- ''गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति ।'' गद्य ही कवियों की कसौटी है । जिस पर कसे जाने पर उनकी कला का जौहर चमक उठता है ।

पद्यबन्ध नाना प्रकार के नियन्त्रणों से जकड़ा हुआ रहता है । मात्रा-छन्द हो या वर्णवृत्त, दोनों में मात्राओं तथा वर्णों की संख्या नियत रहती है । इन व्यवस्थाओं तथा नियमों के जाल में नियन्त्रित कवि की वाणी का प्रसार सर्वतः अवरुद्ध होता है । कवि अपने भावों को व्यक्त करने में स्वतन्त्र नहीं होता । इससे ठीक विपरीत है गद्यमयी रचना । जिसमें कवि अपने भावों को व्यक्त करने के लिए सर्वथा स्वतन्त्र होता है । इसीलिए यह रचना अधिक हृदयावर्जक होती है । लौकिक गद्य तो मानव मन को मुग्ध कर देने वाले होते हैं ।

लौकिक वाङ्मय में गद्य साहित्य को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया गया है- कथा तथा आख्यायिका । अग्निपुराण, काव्यादर्श, रुद्रटकृत काव्यालंकार तथा साहित्यदर्पण आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ये भेद प्रतिपादित है । कथा की वस्तु काल्पनिक होती है । आख्यायिका में ऐतिहासिक वृत्तान्त

का निरूपण रहता है- मुख्य रूप से यही इसमें अन्तर होता है । आचार्य भामह ने इन दोनों को गद्यकाव्य की पृथक्-पृथक् विधाओं के रूप में प्रतिपादित किया था । दण्डी ने कथा तथा आख्यायिका का लक्षण करके अंत में कहा कि वस्तुतः यह एक ही जाति या विधा है, जिसको दो अलग-अलग नाम दे दिये गये हैं । तथापि परवर्ती आचार्यों ने कथा का उदाहरण बाणभट्ट की कादम्बरी और आख्यायिका का उदाहरण उन्हीं के हर्षचरित को मानते हुए दोनों के लक्षण व परस्पर अन्तर इस प्रकार स्थापित किये हैं-

- कथा में विषयवस्तु कविकल्पित होती है; आख्यायिका में ऐतिहासिक ।

1. कथा में आरम्भिक पद्यों में सज्जनों की प्रशंसा, दुर्जनों की निन्दा तथा कवि के वंश का वर्णन रहता है । आख्यायिका में प्राचीन कवियों की प्रशंसा तो आरम्भिक पद्यों में रहती है, पर कविवंशवर्णन गद्य में ही रहता है ।
2. कथा का सर्ग या उच्छ्वास आदि में विभाजन नहीं होता, आख्यायिका उच्छ्वास, निःश्वास या आश्वास आदि में विभाजित रहती है ।
3. कथा में एक अवान्तर प्रसंग से आरम्भ करके मुख्य कथा का उपक्रम किया जाता है । आख्यायिका में कवि अपना परिचय देकर उसके माध्यम से मुख्य कथा का आरम्भ करता है । इस प्रकार आख्यायिका का आरम्भ आत्मकथात्मक होता है, यद्यपि कवि अपने लिए इसमें

अन्य पुरुष का ही प्रयोग करता है । भामह के मत से नायक स्वयं अपना चरित वर्णन करे तो भी आख्यायिका कही जाती है ।

4. आख्यायिका में वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है, कथा में नहीं ।

5. कथा संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत या अपभ्रंश में भी लिखी जा सकती है, आख्यायिका संस्कृत में ही होती है ।[1]

गद्य तथा पद्य द्वारा वर्ण्य विषयों का तारतम्य भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण[2] में दिखलाया है । उनका कहना है कि माध्यम के वैशिष्ट्य से विषय का भी वैशिष्ट्य लक्षित होता है । अटवी आदि के वर्णन में पद्य की अपेक्षा गद्य की प्रगल्भता है तथा काव्यशास्त्रीय निर्वहणोचित अर्थ में पद्य की विशेष महिमा है । कोई अर्थ उभय माध्यमों के द्वारा और कोई अर्थ त्रिविध (गद्य, पद्य तथा मिश्र) माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्ति की योग्यता रखता है । कथा और आख्यायिका का निर्वाह गद्य के द्वारा ही समुचित रीति से हो सकता है और इसीलिए गद्यकवियों की अभिरुचि इस विषय की ओर सबसे अधिक है ।[3]

सामान्यतः बोलचाल की भाषा में भी गद्य परम्परा का ही प्रयोग किया जाता है । गद्य के माध्यम से अपनी बात

---

1. सं. सा0 अभि0 इति0, डॉ0 राधावललभ त्रिपाठी पृष्ठ - 362-63
2. सर0 कण्ठा0 - 2/19
3. सं. सा0 का इति0, वल्देव उपाध्याय पृष्ठ - 378

को श्रोता तक सरलतया पहुँचाया जा सकता है, इसीलिये इसका प्रयोग बहुधा किया जाता है । गद्य का प्रयोग करते समय क्रिया एवं कर्म का महत्त्व कम रह जाता है । जैसे ''देवदत्तः शतं मुष्णाति'' एक वाक्य है । इसमें देवदत्त सौ चुराता है परन्तु वह सौ क्या है? इसका पता नहीं है । अर्थात् सौ रुपये है, या कोई दूसरी वस्तु सौ संख्या में है, इसका ठीक-ठीक पता नहीं है । इस तरह गद्य में मनोभावों का आदान-प्रदान सरल हो जाता है ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लौकिक वाङ्मय में गद्य की जो परम्परा रही वह सार्थक है । उसके माध्यम से जनता में संस्कृतमय भाषा का अवबोध सरल हो जाता है । इसीलिए इसे माध्यम बनाकर संस्कृतज्ञों ने राष्ट्रहित में इसका प्रचार-प्रसार करना शुरू किया । काव्य रचना, साहित्य रचना इसका ज्वलन्त उदाहरण है । लौकिक गद्य का अपना अलग वैशिष्ट्य है ।

(ख) 1. पौराणिक गद्य -

पुराण भारतीय परम्परा के पोषक ग्रन्थ है । भारतीय मनीषियों का कथन है कि कोई द्विज चारों वेदों को तथा उनके अंगों उपनिषदों को जानता भले हो, यदि वह पुराण को नहीं जानता, तो वह विचक्षण - चतुर तथा शास्त्रकुशल नहीं माना जा सकता । पुराण के पांच लक्षण बताये गये हैं- सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित[1] । मानव एक चेतन प्राणी के साथ-साथ बुद्धिमान् भी है । वह अपंनी बुद्धिवैशिष्ट्र्य के कारण पुराणों के यथार्थ को समझकर पारमार्थिक सत्य के मार्ग को सुगम करने में समर्थ है ।

मानव समाज का इतिहास तभी सम्पूर्ण समझा जा सकता है, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय । पुराण का आरम्भ होता है सर्ग (सृष्टि) से और अन्त होता है प्रतिसर्ग (प्रलय) से । इन दोनों छोरों के बीच होने वाले विशाल कालखण्डों (मन्वन्तर) का, राजवंशों का तथा महत्त्वशाली राजाओं का विवरण देना ही पुराण का 'पुराणत्व' है । कलिवंशीय राजाओं का वर्णन पुराणों के माध्यम से ही उपलब्ध हो पाता है ।

पुरातन आर्यावर्त का ज्ञान और विज्ञान, पशु तथा पक्षि-विज्ञान, वनस्पति तथा आयुर्वेद सब एकत्र कर पुराणों में भर दिया गया है । इसका परिणाम यह है कि पुराण

1. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्।।

विश्वविद्या का कोष है । पुराण भक्ति के प्रचारक ग्रन्थ हैं । वर्णाश्रम धर्म का विवरण पुराणों में धर्मशास्त्रों के अनुसार है । भारतीय धर्म तथा संस्कृति के स्वरूप को यथार्थतः जानने के लिए पुराण का अनुशीलन नितान्त अपेक्षित है । धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा भौगोलिक आदि अनेक दृष्टियों से पुराण का विशिष्ट महत्त्व है । वेद हमसे बहुत दूर हट गये, पुराण हमारे समीप हैं; इसलिए पुराण का अध्ययन अनुशीलन वर्तमान जगत् मे नितान्त समुचित तथा उपयोगी है । प्राचीन इतिहास को प्रस्तुत करने में पुराण ही समर्थ हैं । इसीलिए पुराण विशेष महनीयता को प्राप्त हैं ।

अब बात आती है पौराणिक गद्य की । तो मूलरूप में श्रीमद्भागवत महापुराण के गद्य से ही समस्त पौराणिक गद्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । दृष्टान्त (उदाहरण) के लिए कुछ गद्य-खण्ड अर्थ सहित प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध में गद्य की विपुलता है । महाराज परीक्षित् के द्वारा जब प्रियव्रत के विषय में प्रश्न किया गया कि भगवन् ! वे गार्हस्थ्यजीवन व्यतीत करते हुए भी कैसे भगवान् की अविचलभक्ति प्राप्त कर सके ? और यदि अविचल भक्ति मिल गयी तब गार्हस्थ्य जीवन के प्रति झुकाव कैसा? इसका उत्तर देते हुए श्री शुकदेव जी ने कहा कि राजन्! राजकुमार प्रियव्रत बड़े ही भगवद्भक्त थे । श्री नारद जी के चरणों की सेवा करने से उन्हें सहज में ही परमार्थतत्त्व का बोध हो गया था । वे ब्रह्मसत्र की

दीक्षा (निरन्तर ब्रह्माभ्यास में जीवन बिताने का नियम) लेने वाले ही थे कि उसी समय उनके पिता जी स्वायम्भुवमनु ने उन्हें पृथ्वीपालन के लिए शास्त्र में बताये हुए सभी श्रेष्ठ गुणों से पूर्णतया सम्पन्न देख राज्यशासन के लिए आज्ञा दी। किन्तु प्रियव्रत अखण्ड समाधियोग के द्वारा अपनी सारी इन्द्रियों और क्रियाओं को भगवान् वासुदेव के चरणों में ही समर्पण कर चुके थे। अतः पिता की आज्ञा किसी प्रकार उल्लङ्घन करने योग्य न होने पर भी, यह सोचकर कि राज्याधिकार पाकर मेरा आत्म स्वरूप स्त्री-पुत्रादि असत् प्रपञ्च से आच्छादित हो जायगा- राज्य और कुटुम्ब की चिन्ता में फंसकर मैं परमार्थतत्त्व को प्रायः भूल जाऊँगा, उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया-

"यर्हि वाव ह राजन् स राजपुत्रः प्रियव्रतः परमभागवतो नारदस्य चरणोपसेवयाञ्जसावगतपरमार्थसतत्त्वो ब्रह्मसत्रेण दीक्षिस्यमाणोऽवनितलपरिपालनायाम्नातप्रवरगुणगणैकान्तभाजनतया स्वपित्रोपामन्त्रितो भगवति वासुदेव एवाव्यवधानसमाधियोगेन समावेशितसकलकारकक्रियाकलापो नैवाभ्यनन्दद्यपि तदप्रत्याम्नातव्यं तदधिकरण आत्मनोऽन्यस्मादसतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः"[1]।

इसी तरह ऋषभजी के प्रसंग में गद्य का मनोहर निर्दशन दृष्टिगोचर होता है। महाराज परीक्षित् के एक प्रश्न का समाधान करते हुए श्रीशुकदेव जी कहते हैं हे राजन्! ऋषभदेवजी के पुत्र यद्यपि स्वयं ही सब प्रकार सुशिक्षित थे, तो भी लोगों को शिक्षा देने के उद्देश्य से महाप्रभावशाली

1. भा०पु० - 5-1-6

परम सुहृद् भगवान ऋषभ ने उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया-ऋषभदेव जी के सौ पुत्रों में भरत सबसे बड़े थे । वे भगवान् के परम भक्त और भगवद्भक्तों के परायण थे । ऋषभ–देव जी ने पृथ्वी का पालन करने के लिए उन्हें राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वयं उपशमशील निवृत्तिपरायण महामुनियों के भक्ति, ज्ञान और वैराग्यरूप परमहंसोचित धर्मो की शिक्षा देने के लिए बिल्कुल विरक्त हो गए । केवल शरीर मात्र का परिग्रह रखा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड़ दिया । अब वे वस्त्रों का भी त्याग करके सर्वथा दिगम्बर हो गये । उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे । उन्मत्तका-सा वेष था । इस स्थिति में वे आहवनीय (अग्निहोत्र की) अग्नियों को अपने में ही लीन करके संन्यासी हो गए और ब्रह्मावर्त देश से बाहर निकल गए -

"एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधान प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज ।।"[1]

महाराज परीक्षित् ने श्रीशुकदेव जी से पूछा कि हे भगवन्! जहां तक सूर्य का प्रकाश है और जहां तक तारागण के सहित चंद्रदेव दिखाई पड़ते हैं वहां तक आपने भूमण्डल

---

1. भा०पु० 5, 5, 28

का विस्तार बतलाया है । अब आप भूमण्डल में सातों दीपों का विभागशः वर्णन करने की कृपा करें-

"उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चंद्रमा वा सह दृश्यते, तत्रापि प्रियव्रतरथचरण - परिखातैः सप्तभिः सप्त सिन्धव उपक्लृप्ता यत एतस्याः सप्तद्वीप - विशेष - विकल्पस्त्वया भगवन् खलु सूचित एतदेवाखिलमहं मानतो लक्षणतश्च सर्व विजिज्ञासामि ।[1]

इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्री शुकदेव जी कहते हैं-

महाराज ! भगवान् की माया के गुणों का इतना विस्तार है कि यदि कोई पुरुष देवताओं के समान आयु पा ले तो भी मन या वाणी से इसका अन्त नहीं पा सकता है । इसलिए हम नाम, रूप, परिमाण और लक्षण के द्वारा मुख्य-मुख्य बातों को लेकर ही भूमण्डल की विशेषताओं का वर्णन करेगें । यह जम्बूद्वीप- जिसमें हम रहते हैं, भूमण्डलरूपकमलकोशस्थानीय जो सात द्वीप है, उनमें सबसे भीतर का कोश है । इसका विस्तार एक लाख योजन है और यह कमल पत्र के समान गोलाकार है । इसमें नौ-नौ हजार योजन विस्तार वाले नौ वर्ष हैं; जो इनकी सीमाओं का विभाग करने वाले आठ पर्वतों से बँटे हुए हैं । इनके बीचों-बीच इलावृत्त नाम का दसवां वर्ष है; जिसके मध्य में कुल पर्वतों का राजा मेरुपर्वत है । वह मानों भूमण्डल रूप कमल की कर्णिका ही है । वह ऊपर से नीचे तक सारा

1. भा0पु0 5, 16, 1, 2

का सारा सुवर्णमय है और एक लाख योजन ऊँचा है । इसका विस्तार शिखरपर बत्तीस हजार और तली में सोलह हजार योजन है तथा सोलह हजार योजन ही वह भूमि के भीतर घुसा हुआ है अर्थात् भूमि के बाहर उसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है । इलावृत्त वर्ष के उत्तर में क्रमशः नील-श्वेत और श्रृंगवान् नाम के तीन पर्वत हैं- जो रम्यक, हिरण्मय और कुरु नाम के वर्षों की सीमा बांधते हैं । वे पूर्व से पश्चिम तक खारे पानी के समुद्र तक फैले हुए हैं; उनमें से प्रत्येक की चौड़ाई दो हजार योजन है तथा लम्बाई में पहले की अपेक्षा पिछला क्रमशः दशमांश से कुछ अधिक कम है । चौड़ाई और ऊँचाई तो सभी की समान है -

''न वै महाराज भगवतो मायागुणविभूतेः काष्ठां मनसा वचसा वाधिगन्तुमलं विबुधायुषापि पुरुषस्तस्मात्प्राधान्येनैव भूगोलकविशेषं नामरूपमानलक्षणतो व्याख्यास्यामः । यो वायं द्वीपःकुबलयकमलकोशा- भ्यन्तरकोशो नियुतयोजनविशालः समवर्तुलो यथा पुष्करपत्रम् । यस्मिन्नव वर्षाणि नवयोजनसहस्रयामान्यष्टभिर्मर्यादागिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति । एषां मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्य मूर्धनि द्वात्रिंशत्सहस्रयोजनविततो मूले षोडशसहस्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः । उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः श्रृङ्गवानितित्रयो रम्यकहिरण्यमयकुरूणां वर्षाणां मर्यादागिरयः प्रागायता उभयतः क्षारोदावधयो द्विसहस्रपृथव

एकैकशः पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो दशांशाधिकांशेन दैर्घ्य एव ह्रसन्ति ।[1]

इसी प्रकार सातों द्वीपों का वर्णन मुनिवर शुकदेव जी ने किया है । परन्तु सभी का वर्णन करना यहाँ समीचीन प्रतीत नहीं होता । जिस द्वीप अर्थात् जम्बूद्वीप में प्राणी निवास करते हैं उसका वर्णन ही पर्याप्त माना जा रहा है ।

इसी तरह ग्रहों की स्थिति के विषय में राजा परीक्षित् ने पूँछा तो श्री शुकदेव जी ने पाण्डित्यपूर्ण शैली में समाधान करते हुए संक्षेप में बताया कि हे राजन् ! जैसे कुम्हार के घूमते हुए चाक पर बैठकर उसके साथ घूमती हुई चींटी आदि की अपनी गति उससे भिन्न ही है, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न समय में उस चक्र में भिन्न-भिन्न स्थानों में देखी जाती है । उसी प्रकार नक्षत्र और राशियों से उपलक्षित कालचक्र में पड़कर ध्रुव और मेरु को दाएं रखकर घूमने वाले सूर्य आदि ग्रहों की गति वास्तव में उससे भिन्न ही है । क्योंकि वे कालभेद से भिन्न-भिन्न राशि और नक्षत्रों में दिखाई पड़ते हैं । वेद और विद्वान लोग भी जिनकी गति को जानने के लिए उत्सुक रहते हैं, वे साक्षात् आदिपुरुष भगवान् नारायण ही लोगों के कल्याण और कर्मों की शुद्धि के लिए अपने वेदमय विग्रह काल में बारह मासों में विभक्त कर बसन्तादि छः ऋतुओं में उनके यथायोग्य गुणों का विधान करते हैं ।

यथा कुलालचक्रेण भ्रमंता सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिरन्यैव प्रदेशान्तरेष्वप्युपलभ्यमानत्वादेवं नक्षत्रराशिभिरुपलक्षितेन कालचक्रेण ध्रुवं मेरुं च प्रदक्षिणेन

---

1. भा०पु० 5, 16, 4-8

परिधावता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे चोपलभ्यमानत्वात् । स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षान्नारायणो लोकानां स्वस्तय आत्मानं त्रयीमयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि च वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिषु ऋतुषु यथोपजोषमृतुगुणान् विदधाति[1] ।

पाताललोक का वंर्णन करते हुए श्री शुकदेव जी कहते हैं कि वहां शंख, कुलिक, महाशंख श्वेत, धनञ्जय, धृतराष्ट्र, शंखचूड़, कम्बल, अश्वतर और देवदत्त आदि बड़े क्रेधी और बड़े-बड़े फनों वाले नाग रहते हैं । इनमें वासुकि प्रधान है । उनमें से किसी के पांच, किसी के सात, किसी के दस, किसी के सौ और किसी के हजार सिर हैं । उनके फनों की दमकती हुई मणियां अपने प्रकाश से पाताललोक का सारा अन्धकार नष्ट कर देती है-

ततोऽधस्तात्पाताले नागलोकपतयो वासुकिप्रमुखाः शङ्खकुलिकमहाशङ्खश्वेतधनञ्जयधृतराष्ट्रशङ्खचूडकम्बलाश्वतरदेव- दत्तादयो महाभोगिनो महामर्षा निवसन्ति येषामु ह वै पंचसप्तदश- शतसहस्रशीर्षाणां फणासु विरचिता महामणयो रोचिष्णवः पातालविवरतिमिरनिकरं स्वरोचिषा विधमन्ति[2] ।

पञ्चम स्कन्ध के अतिरिक्त भी श्रीमद्भागवत में गद्य का दर्शन होता है । षष्ठ स्कंध में जब देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् श्री नारायणजी प्रगट होते हैं तो देवतागण उनका दर्शन प्राप्त कर भावविह्वल होकर कहने लगे भगवन् ! नारायण! वासुदेव! आप आदिपुरुष (जगत् के परम कारण) हैं

---

1. भा.पु. 5.22-2-3
2. भा.पु. 5.24-31

और महापुरुष (पुरुषोत्तम) में आपकी महिमा असीम है । आप परम मंगलमय, परम कल्याण स्वरूप और परम दयालु हैं । आप ही सारे जगत् के आधार एवं अद्वितीय है, केवल आप ही सारे जगत् के स्वामी हैं । आप सर्वेश्वर हैं तथा सौन्दर्य और मृदुलता की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी के परम पति हैं । भो! परमहंस परिब्राजक विरक्त महात्मा जब आत्मसंयम रूप परम समाधि से भली-भांति आपका चिन्तन करते हैं तब उनके शुद्ध ह्रदय में परमहंसों के धर्म वास्तविक भगवद्भजन का उदय होता है । इससे उनके हृदय के अज्ञान रूप किवाड़ खुल जाते हैं और उनके आत्मलोक में आप आत्मानन्द के रूप में बिना किसी आवरण के प्रकट हो जाते हैं और वे आपका अनुभव करके निहाल हो जाते हैं । हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं -

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन् नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममंगल परमकल्याण परमकारुणिक केवल जगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्घाटित-तमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान्[1] ।

इस तरह पौराणिक गद्य की छटा दृष्टिगोचर होती है जो अनुपमेय है ।

2. व्याकरणशास्त्रीय गद्य :-

व्याकरण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र- "व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति

---

1. भा.पु. 6.9.33

व्याकरणम् ।'' व्याकरण वेद पुरुष का मुख माना जाता है - मुखं व्याकरणं स्मृतम् । मुख होने से ही वेदांगों में व्याकरण की मुख्यता है । जिस प्रकार मुख के बिना भोजनादि के न करने से शरीर की पुष्टि असंभव है उसी प्रकार व्याकरण के बिना वेदरूपी पुरुष के शरीर की रक्षा तथा स्थिति असम्भाव्य है । इसीलिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन बड़े ही गंभीर शब्दों में किया है ।

स्वयं ऋक् संहिता में इस व्याकरण-शास्त्र की प्रशंसा में अनेक मन्त्र भिन्न-भिन्न स्थानों में उपलब्ध होते हैं । ऋग्वेद के एक सुप्रसिद्ध मंत्र में शब्द शास्त्र (व्याकरण) का वृषभ से रूपक बांधा गया है जिसमें व्याकरण ही कामों (इच्छाओं) की पूर्ति (वर्णन) करने के कारण वृषभ नाम से उल्लिखित किया गया है । इसके चार सींग है - (1) नाम (2) आख्यात क्रिया (3) उपसर्ग और (4) निपात । वर्तमान भूत व भविष्य - ये तीन काल इसके तीन पाद हैं । इसके दो सिर हैं - सुप् और तिङ् । इसके सात हॉथ सात विभक्ति- प्रथमा, द्वितीया आदि के रूप में हैं । यह उर, कण्ठ व सिर इन तीनों स्थानों में बांधा गया है । यह महान् देव है जो मनुष्यों में प्रवेश किए हुए है । (ऋ.वे. 4/58/6)

चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।

ऋग्वेद के एक दूसरे मंत्र में व्याकरण-शास्त्र के विशेषज्ञ तथा अनभिज्ञ व्यक्तियों की तुलना बड़ी ही मार्मिक रीति से की गयी है । व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति एक ऐसा जीव

है जो वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता, परन्तु व्याकरण के विद्वान् के लिए वाणी अपने रूप को उसी प्रकार से अभिव्यक्त करती है, जिस प्रकार शोभन वस्त्रों से सुसज्जित कामिनी अपने पति के सामने अपने को समर्पण करती है ।[1]

इसी प्रकार आचार्य वररुचि ने व्याकरणशास्त्र के महत्त्व को बतलाते हुए इसके अध्ययन के पांच प्रधान प्रयोजन बतलाए हैं । महर्षि पतञ्जलि ने इसके अतिरिक्त व्याकरण के तेरह प्रयोजनों का वर्णन महाभाष्य के आरंभ (पस्पसाह्निक) में बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया है । यहां हम कतिपय प्रयोजनों का उल्लेख करेंगे । वररुचि के अनुसार व्याकरण के मुख्य पांच प्रयोजन निम्नलिखित हैं :- (1) रक्षा (2) ऊह (3) आगम (4) लघु तथा (5) असन्देह (रक्षोहागम-लध्वसन्देहाः प्रयोजनम्- महाभाष्य) ।

(1) रक्षा :- व्याकरण के अध्ययन का प्रधान लक्ष्य वेद की रक्षा है । वेद का उपयोग यज्ञ-याग के विधान में है । इन्हीं प्रयोगों में उपयुक्त होने वाले मन्त्रों का समुच्चय वेद की संहिताओं में किया गया है । किसी मन्त्र का उपयोग किस यज्ञ में किया जाय ? किस मन्त्र का विनियोग कहां संपन्न हो? इन प्रश्नों में आए हुए पदों के स्वरूप को पहचान तथा उनके अर्थ से परिचय रखता है इसीलिए वेद की रक्षा का प्रधान भार वैयाकरण के ऊपर है ।

1 उतत्वः पश्यन् न ददर्श वाचम् उतत्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः ।। (ऋ. 10/71/1)

(2) ऊहः- ऊह का अर्थ है नए पदों की कल्पना से । वेद में मंत्र न तो सब लिंगों में दिए गए हैं और न सभी विभक्तियों में, यज्ञ की आवश्कतानुसार इन लिंगों में परिणाम अनिवार्य होता है । इस विपरिणाम का सम्पादन वही पुरुष कर सकता है जो व्याकरण सम्मत शब्द से परिचित हो ।

(3) आगमः- स्वयं श्रुति ही व्याकरण के अध्ययन के लिए प्रमाणभूत है । वह कहती है कि ब्राह्मण का यह कर्तव्य है कि वह निष्कारण धर्म तथा अङ्ग सहित वेद का अध्ययन एवं ज्ञान प्राप्त करें । मुख्य विषय में किया गया यत्न विशेष फलवान् होता है । इसलिए श्रुति के प्रामाण्य को स्वीकार कर व्याकरण का अध्ययन करना प्रत्येक द्विज का कर्तव्य है ।

(4) लघुः- लघुता के लिए भी व्याकरण का पठन-पाठन आवश्यक है । संस्कृत भाषा के प्रत्येक शुद्ध शब्द का यदि हम अध्ययन करना चाहें तो इस लघु जीवन की कथा तो क्या अनेक जीवन व्यतीत हो जायँ । परन्तु इस शब्द-वारिधि के अंत तक हम नहीं पहुंच सकते । व्याकरण ही वह लघु उपाय है जिसका आश्रय लेकर हम अपने मनोरथ को पूरा कर सकते हैं । व्याकरण का अध्ययन सकल शास्त्रों की वह कुंजी है जिससे सरलता से उनके रहस्य का उद्घाटन हो सकता है ।

(5) असन्देहः- वैदिक शब्दों के विषय में उत्पन्न सन्देह का निराकरण व्याकरण ही कर सकता है । ऐसे अनेक

समासयुक्त पदों का प्रयोग मिलता है, जिसमें अनेक प्रकार के समासों की सम्भावना बनी रहती है । वह बहुब्रीहि भी हो सकता है और तत्पुरुष भी । अब इस सन्देह का निराकरण करे तो कौन करे? स्वर की सहायता से ही इसका निर्णय किया जा सकता है । यदि यह पद आन्तोदात्त हो तो कर्मधारय होगा और यदि वह पूर्वपद प्रकृति-स्वर हो तो बहुब्रीहि होगा । स्वर के इन सूक्ष्म बातों का पता वैयाकरण को ही रहता है । इसलिए वैदिक अध्ययन के निमित्त व्याकरणशास्त्र की भूयसी उपयोगिता है ।

इन उपर्युक्त पाँच प्रयोजनों के अतिरिक्त पतञ्जलि ने अन्य 13 प्रयोजनों का भी उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया है । जिसमें कतिपय नीचे दिए जाते है :-

(1) अवभाषणाः- शब्दों के अशुद्ध उच्चारण को दूर हटाने के लिए व्याकरण ही हमें बतलाता है । सुना जाता है कि असुर लोग 'हेलय' 'हेलय' ऐसा उच्चारण करते हुए पराजय को प्राप्त हुए । वर्णों तथा शब्दों का अशुद्ध उच्चारण करना ही म्लेच्छ और शुद्ध उच्चारण करना आर्य है । अतः हम म्लेच्छ न हो जायँ, इसीलिए व्याकरण का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है ।

(2) दुष्टशब्द :- शब्दों के शुद्ध एवं अशुद्ध रूप का ज्ञान व्याकरण के अधीन है । अशुद्ध शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले अनर्थों से हम भली-भांति परिचित हैं । अतः दुष्ट

शब्दों के प्रयोग से अपने को बचाने के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है ।

(3) अर्थज्ञान :- वेद के अर्थ को जानने के लिए व्याकरण का जानना आवश्यक है । बिना अर्थ को जाने हुए शास्त्र का अध्ययन उसी प्रकार से फल नहीं देता, जिस प्रकार आग में न रखी गयी सूखी लकड़ी । सूखी लकड़ी में जलने की योग्यता आवश्यक है पर उसका आग के साथ संयोग होना भी आवश्यक है । इसी प्रकार अर्थज्ञान के सम्पन्न होने पर ही शब्दज्ञान सफलता प्राप्त करता है ।

(4) धर्म-लाभ :- जो कुशल व्यक्ति व्यवहार के समय शुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है वह स्वर्ग लोक में अनंत फल प्राप्त करता है । परन्तु जो केवल अपशब्दों का ही प्रयोग करता है, वह अनेक पापों का भाजन बनता है । शुद्ध शब्द एक ही होता है पर उसी के अनेक अपभ्रंश उपलब्ध होते हैं । गौ, शब्द व्याकरण से शुद्ध है पर उसी स्थान पर गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिका आदि अनेक अपभ्रंश मिलते हैं । धर्म-लाभ के लिए शुद्ध पदों का प्रयोग उचित होता है अपभ्रंश का नहीं ।

(5) नामकरण:- गृह्यकारों का कहना है कि उत्पन्न हुए जातक का नामकरण दशम दिन में करना चाहिए । इस नामकरण के विशिष्ट नियम हैं, जिनमें एक यह है कि वह कृदन्त होना चाहिए तद्धितान्त नहीं । इन सूक्ष्म बातों का

परिचय वही पा सकता है जिसने व्याकरण का अनुशीलन किया हो ।

इन कतिपय सिद्धांत से ही व्याकरण की महती आवश्यकता का पर्याप्त परिचय हमें प्राप्त हो सकता है । प्राचीन व्याकरण के विषय का निर्देश गोपथ-ब्राह्मण (1/24) में स्पष्टतया किया गया है । धातु प्रातिपदिक, नाम, आख्यात लिंग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग, निपात, मात्रा, वर्ण, अक्षर, पद, संयोग, स्थानानुप्रदान- आदि पारिभाषिक शब्द उस समय के व्याकरण शास्त्र के मान्य शब्द थे । इस उद्धरण का **"शिक्षिका:"** शब्द भी पारिभाषिक है । इस शब्द का प्रयोग शुद्ध उच्चारण की शिक्षा देने वाले व्यक्ति के लिए किया गया है । व्याकरण शब्द का प्रयोग भी इस बात का स्पष्ट परिचायक है कि गोपथ - ब्राह्मण की रचना से बहुत पूर्वकाल में ही इस शास्त्र की उत्पत्ति हो चुकी थी ।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि वेद के इस अंग का प्रतिनिधि ग्रंथ कौन सा है ? आजकल प्रचलित व्याकरण में पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम है । यह निःसंदेह बात है और प्राचीनतम होने की दृष्टि से यही व्याकरणात्मक वेदांग का प्रतिनिधि माना जाता है, परन्तु पाणिनि से भी पूर्व काल में 'ऐन्द्र' व्याकरण की सत्ता थी, जिसके प्रबल तथा पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हुए हैं । बहुत पहले से ही यह व्याकरण काल कवलित हो गया है, परन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कथन अनुचित न होगा कि वैदिक काल में इन्द्र के प्रथम वैयाकरण होने की घटना का स्पष्ट निर्देश है । पिछले

वैयाकरणों ने भी इसकी आवृति की है । अतः इसकी सत्ता में सन्देह करने का कोई स्थान नहीं है ।

पाणिनि व्याकरण :- आजकल व्याकरणरूपी वेदांग का प्रतिनिधित्व करने वाला एक ही व्याकरण है, और वह है 'पाणिनीय व्याकरण' । महर्षि पाणिनि ने लगभग 4000 अल्पाक्षर सूत्रों के द्वारा संस्कृत भाषा का नितान्त वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत कर विद्वानों को आश्चर्य में डाल दिया । वैज्ञानिक दृष्टि से देवभाषा का जितना सुन्दर, शास्त्रीय विवेचन पाणिनि ने किया है वैसा विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता । हम निःसन्देह कह सकते हैं कि पाणिनि जैसा भाषा-मर्मज्ञ वैयाकरण संसार में अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है ।

पाणिनि का ग्रंथ आठ अध्यायों में विभक्त है, इसलिए इसे 'अष्टाध्यायी' कहते हैं । इसका समय ईसा-पूर्व षष्ठ शतक है । पाणिनि के द्वारा अव्याख्यात संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को व्याख्या करने के उद्देश्य से कात्यायन ने ई0 पूर्व चतुर्थ शतक में वार्तिकों की रचना की । तदनन्तर ई0 पूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने महाभाष्य का निर्माण किया । सूत्रों के भाष्य अनेक हैं परन्तु विषय, व्यापकता तथा विचार की गम्भीरता के कारण यही भाष्य महाभाष्य के गौरवपूर्ण अभिधान को प्राप्त कर सका है । व्याकरण के दार्शनिक सिद्धांन्तों की मीमांसा सर्वप्रथम हमें यहीं उपलब्ध होती है । इसका गद्य नितान्त प्राञ्जल तथा साहित्यिक है । ग्रंथकार ने कथोपकथन की शैली में समग्र

ग्रंथ की रचना नितांत मनोरंजक रूप में की है । व्याकरण के ये ही मुनित्रय है- पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ।[1]

महाभाष्य के अनन्तर व्याकरण दर्शन का सबसे प्रधान ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' है । इसके रचयिता आचार्य भर्तृहरि थे (षष्ठ शतक) । वाक्यपदीय में व्याकरणशास्त्र का दार्शनिक रूप स्फुट रूप से अभिव्यक्त होता है । व्याकरण शैवागम के अन्तर्गत है । उसकी अपनी विशिष्ट साधन-प्रक्रिया है । इसका पूर्ण परिचय विद्वानों को वाक्यपदीय के अनुशीलन से होता है । भर्तृहरि शब्दाद्वैत के संस्थापक थे । उनकी दृष्टि में स्फोट ही एकमात्र परमतत्त्व है और यह जगत् उसी का विवर्त-रूप है । उन्होंने महाभाष्य के ऊपर भाष्यदीपिका नामक टीका लिखी थी, परन्तु आजकल 'त्रिपाठी' ही उपलब्ध है । कश्मीर के निवासी कैयट द्वारा विरिचित भाष्य-प्रदीप ही महाभाष्य के सिद्धातों को प्रदीप के समान प्रकाशित करने वाला एकमात्र ग्रंथरत्न है । प्रदीप के ऊपर नागेश भट्ट ने उद्योग की रचना कर प्रदीप के सिद्धान्तों का नितान्त स्पष्ट बनाने का श्लाघनीय उद्योग किया ।

संस्कृत भाषाः- पाणिनि के समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, जिसमें शिष्ट लोग अपने मनोभावों का प्रकटीकरण अनायास बिना किसी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा किया करते थे । पाणिनि ने उस युग की संस्कृत को 'भाषा' शब्द के द्वारा व्यक्त किया है । उसके विपरीत प्राचीन वैदिक भाषा

---

1. वर्तमाने लट् (3/2/123) वार्तिक-प्रवृतस्थ विरामे शिष्या भवन्त्या वर्तमानत्वात्। 'भवन्तीति लटः पूर्वाचार्य- संज्ञा - कैयट'

के लिए मंत्र, छन्दसि तथा निगम इन तीन शब्दों का प्रयोग किया है, जिनमें मंत्र से तात्पर्य संहिता-विषयक मंत्र से, तथा छन्दसि से तात्पर्य मंत्र तथा ब्राह्मण दोनों से है । निगम का प्रयोग यास्क ने सामान्यतः वेद के लिए किया है और पाणिनि ने भी इसी अर्थ में इसे प्रयुक्त किया है (6।3।3।) । पाणिनि वैदिक संस्कृत की विशेषता बतलाने वाले सूत्रों के साथ छन्दसि शब्द जोड़ते हैं, जो मंत्र और ब्राह्मण दोनों की भाषा की विशिष्टता सामान्यरूपेण सूचित करता है । 'छन्दसि के द्वारा ब्राह्मण की भाषा का एक संकेत देखिए' शीर्षछन्दसि (6।1।060) सूत्र में जिसका उदाहरण ''शीर्षणाहि सोम क्रीतं हरन्ति'' ब्राह्मण का उदाहरण है। 'छन्दसि' के द्वारा सामान्य संकेत करके ही पाणिनि ने वैदिक भाषा के विवेचन को अस्पष्ट नहीं छोड़ा है, अपितु 6 ।4 ।14 ।, निगमे (6 ।3 ।113; 6 ।4 ।9) तथा ब्राह्मण भाग (ब्राम्हणे 2 ।3 ।60, अमन्त्रे 3 ।1 ।35) की भाषा के वैशिष्ट्य का पृथक् उल्लेख भी किया है। इतने से ही पाणिनि को सन्तोष नहीं हुआ । प्रत्युत उन्होंने वैदिक वाङ्मय के विभिन्न ग्रंथों की भाषा की विशिष्टताओं का भी स्पष्ट निर्देश किया है । यथा ऋचि (6/3/133, 7/4/39) ऋक्षु (8/3/8) यजुषि काठके (7/4/38) इतना ही नहीं 6/1/117 (यजुष्युर!) सूत्र का यजुषि पद की अनुवृत्ति उसके अनन्तर चार सूत्रों में जाती है जहां यजुर्वेद की भाषाविलक्षणता का पूरा परिचय दिया गया है । ऋग्वेद की भाषा की कतिपय विशिष्टता पर पाणिनि ने विशेष ध्यान दिया है । उन्होंने अपने 8/2/102 सूत्र में ऋग्वेद 10/139/5 में प्रयुक्त प्लुति के स्वर के संबंध में तथा 7/1/43 सूत्र में ऋ0 8/3/37

के यजध्वैनम् के सम्बंध में विचार किया है (यजध्वैनं प्रियमेषः) ।

पाणिनि के अनन्तर कात्यायन तथा पतंजलि का इस विषय में संकेत तक नहीं है । पाणिनि के द्वारा अव्याख्यात वैदिक तथा लौकिक शब्दों का व्याख्यान कात्यायन ने अपने वार्तिको में किया है । पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में वैदिक भाषा-संबंधी बहुत से सूत्रों और वार्तिकों का आख्यान आकर ग्रंथों के उदाहरण के साथ किया है । पतञ्जलि का वैदिक वाङ्मय का अध्ययन बड़ा ही गंभीर था । अतएव उनके द्वारा वैदिक शब्दों की सिद्धि का उल्लेख नितान्त प्रामाणिक है । काशिका तथा कौमुदी में भी वैदिक शब्दों की व्याख्या उल्लेख-योग्य हैं । इस प्रकार शब्दों की साधुता तथा वैदिक स्वर प्रक्रिया की मीमांसा मार्मिक ढंग से की गयी है । अतएव इस व्याकरण को व्याकरण 'वेदांग' का प्रतिनिधि मानना सर्वथा उपयुक्त तथा उचित है ।

पाणिनि के द्वारा व्याकृत भाषा मध्यदेश में प्रयुक्त संस्कृत भाषा थी । उन्होने प्राचां तथा उदीचां शब्दों के द्वारा पूरर्वी भारत तथा उत्तरी भारत में होने वाली प्रयोगभिन्नता को प्रदर्शित किया है ।

यथा - 'कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च । (1/3/90) सूत्र के अनुसार कर्मतार प्रयोग में 'कुष्यति' बनता है पूरब देश मे अन्यत्र आत्मनेपद प्रयुक्त होता है । कही 'प्राचां' तथा उदीचां के परस्पर प्रयोग विरोध का प्रदर्शन है (द्रष्टव्य 3/4/18 तथा 3/4/19) । इस प्रकार पाणिनि के समय में भारत के तीन विभिन्न खण्ड प्रतीत होते है- पूरब देश, उत्तर देश तथा मध्य देश । 'प्राचां' तथा 'उदीचां' की मेदिका

नदी, काशिका के अनुसार, शरावती थी, जो पंजाब की 'शरदण्डा' नदी प्रतीत होती है । इस प्रकार शरावती भारत को दो भागों मे विभक्त करती है- पूरबी तथा उत्तरी । अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम् (6/2/89) में अनुदीचाम् के द्वारा मध्य देश की ओर संकेत है । पाणिनि स्वयं उदीच्य थे । अतः उत्तर भारत के नगरों, ग्रामों, नदियों तथा जातियों से उनका घनिष्ठ परिचय होना स्वाभाविक है । कभी उदीच्य देश की भाषा का सम्मान विशेष रूप से था; वहां की ही भाषा नितान्त विशुद्ध मानी जाती थी । उस समय के लोग संस्कृत भाषा सीखने के लिए उदीच्य प्रान्त में जाते थे और देश में लौटने पर आदर और सत्कार के पात्र माने जाते थे (उदच्च एवं यान्ति वाचं शिक्षितुम् । वै तत् आगच्छति तं शुश्रूषन्ते । शांखायन ब्राम्हण 8/6) । मध्य देश ही आर्य संस्कृति का निरूपक तथा प्रतिष्ठापक था और इसीलिए उस देश की भाषा भी कालान्तर में समस्त आर्यावर्त की मान्य भाषा हुई । यही न्याय-संगत स्थिति प्रतीत होती है ।[1] इस तरह व्याकरणशास्त्रीय गद्य से भी हमारे शास्त्र, वेदाङ्ग आदि परिपूर्ण दृष्टिगोचार होते हैं ।

3. दर्शनशास्त्रीय गद्यः-

हमारे समग्र दर्शन-ग्रन्थ पद्य में ही लिखे गए हैं और उनमें अपने अर्थप्रकटन की योग्यता सुचारु रूप से विद्यमान है । परन्तु अर्थो की अभिव्यक्ति चरम लक्ष्य होने के कारण इन ग्रन्थकारों का ध्यान शब्दगत सौन्दर्य रखने की ओर कम

---

1. प्राशुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा ।
विदुषां शब्दसिध्यर्थ सा नः पातु शरावती । (1/1/75 पर काशिका में उद्धृत)

गया है । शब्द रूखे-सूखे भले हों; उन्हें मनोगत भावों को प्रकट करना चाहिए । परन्तु इन दार्शनिकों के बीच कतिपय ऐसे भी ग्रन्थकार है जिनका गद्य विशुद्ध साहित्यिक गद्य के समान पेशल एवं सुन्दर है । इन दार्शनिकों की अपनी एक विशिष्ट शैली है जिसका प्रयोग उन्होने अपने ग्रन्थों में किया है । ऐसे शास्त्रकारों में कालक्रम से चार को चुन सकते हैं - (1) पतञ्जलि (2) शबरस्वामी (3) शंकराचार्य (4) जयन्त भट्ट । ये विद्वान् अपने शास्त्र में महनीय आचार्य हैं; साथ ही साथ उनका शब्द समूह नितान्त उदात्त तथा विशेष प्राञ्जल है । इसे पढ़ते समय हमें तनिक भी भान नहीं होता है कि इसमें किसी दुरूह विषय का प्रतिपादन किया जा रहा है । महर्षि पतञ्जलि की महाभाष्य लिखने की शैली विलक्षण है । यह व्याकरण का आकार ग्रन्थ तो है ही साथ ही उनके शास्त्रों का पुञ्जीभूत सिद्धान्त-द्योतक भी है । पतञ्जलि परिचित विषयों पर भी नई बात बतलाने से नहीं चूकते । उनकी भाषा बोल-चाल की और शैली में कथोपकथन की रीति है । जान पड़ता है कि पाठक उनके सामने बैठे हैं और वे अपना सिद्धांत उन्हें समझा रहे हैं । उनके गद्य की रमणीयता देखिए-

ये पुनः कार्याभावानिवृतौ तावत् तेषां यत्नः क्रियते । तद् यथा घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह-कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति । न तद्वच्छब्दान् प्रयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति । तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुज्यते । (पस्पशाह्निक)

शबरस्वामी प्रौढ़ मीमांसक हैं जिन्होंने कर्म मीमांसा के सूत्रों पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा । उनकी शैली भी सीधी-सादी तथा रोचक है (1.1.15)-

इच्छयात्मानमुपलभामहे । कथमिति? उपलब्धपूर्वे ह्यभिप्रेते भवतीच्छा । यथा मेरुमुत्तरेण यान्यस्मज्जातीयैरनुपलब्धपूर्वाणि स्वादूनि वृक्षफलानि च तानि प्रत्यस्माकमिच्छा भवति ।

शंकराचार्य के गद्य की सुषमा निराली है । उनके वाक्य सारगर्भित प्रौढ़ तथा प्राञ्जल हैं । वाचस्पति मिश्र जैसे विद्वान् ने उसे यथार्थतः प्रसन्न गम्भीर कहा है । उनके गद्य में वीणा की मधुर झंकार सुनाई पड़ती है । साहित्यिक माधुर्य तथा प्रसाद से पेशल यह गद्य संस्कृत-भारती का सौन्दर्य है । उनके एक-एक वाक्य पर गद्य के पोथे निछावर किए जा सकते है । एक सारगर्भित वाक्य है-

“नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हति ।”

अर्थात् पैरों से भागनें में समर्थ व्यक्ति के लिए घुटनों के बल चलना शोभा नही देता है । आचार्य का गद्य मात्रा में भी अधिक है । ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषदों का भाष्य लिखना विशेष-रचनाचातुर्य का द्योतक है । आचार्य के गद्य की असामान्य सुषमा नितरां अवलोकनीय है-

सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यवस्यति पुण्यमत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि । उच्यते-न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत्प्रत्यय- विषयत्वात् न चायमस्ति

नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यवसितव्यमिति । अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यवस्यन्ति ।

जयन्त भट्ट की "न्याय मञ्जरी" न्याय दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है । इनका गद्य बड़ा ही सुन्दर सरस तथा प्राञ्जल है न्याय तो स्वभाव से ही कठिन है । परन्तु उन्होंने उसे अपनी रोचक शैली से अत्यन्त हृदयङ्गम बना दिया है । इनके गद्य में व्यङ्ग्य-उक्तियों की काफी भरमार है । इनकी शैली का परिचय इस उद्धरण से भली-भांति लग सकता है ।

"आः क्षुद्रतार्किक! सर्वथानभिज्ञोऽसि, ब्रह्मैव जीवात्मनो नहि ततोऽन्ये । न हि दहनपिण्डाद् भेदेनापि भान्तः स्फुलिङ्गा अग्निस्वरूपा भवन्ति । तद् किं ब्राण एवाविद्या न च ब्रह्मणोऽविद्या ।" इस तरह दर्शनशास्त्रीय गद्य की भी बहुलता पायी जाती है ।

4. साहित्यिक गद्यः-

संस्कृत गद्य की पहली विशिष्टता है- लाघव, (लघुता) । जो विचार अन्य भाषा में पूरे लम्बे वाक्य में प्रकट किए जा सकते हैं वे संस्कृत गद्य के एक पद में अभिव्यक्त किए जा सकते हैं जिसका कारण समास की सत्ता है । समास संस्कृत भाषा का प्राण है । उसने अधिक से अधिक अर्थ कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त करने की योग्यता उसे प्रदान की है । ओज गुण के कारण संस्कृत गद्य में विचित्र प्रकार की भावग्राहिता तथा गाढ़-बन्धता का संचार होता है । जिससे गद्य का सौन्दर्य पूरे रूप में खिल उठता

है । ओज का प्रधान लक्षण है- समास की बहुलता (समासभूयस्त्व) और यही ओज गद्य का प्राण है । ''ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्''- यह उक्ति अवश्य ही आलंकारिक दण्डी की है, जिनका आविर्भाव गद्य साहित्य के सुवर्ण युग में हुआ था परन्तु संस्कृत गद्य की यह विशिष्टता प्राचीनकाल से ही चली आ रही है । इसका सद्भाव प्रथम व द्वितीय शतक के भी शिलालेखों में प्रचुरता से है । पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध क्षत्रप रुद्रदामन् के शिलालेख को पढ़ने से यही जान पडता है कि हम बाण की शैली से प्रभावित गद्य पढ़ रहे हैं । परन्तु यह गद्य बाण से लगभग पांच सौ वर्ष पहले उद्धृत किया गया था । हरिषेण की प्रयाग-प्रशस्ति का गद्य भी इसी प्रकार प्रौढ़ समास-बहुल तथा उदात्त है । विजय स्तम्भ के वर्णन में कवि की यह उक्ति सदा विदग्धों को चमत्कृत करती रहेगी-

''सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्ति-मितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरय- मुच्छ्रितः स्तम्भः' ।''

इस शैली का प्रयोग गद्य काव्य के लिखने में किया जाता था, परन्तु कथानकों के वर्णन में सीधी-सादी भाषा का ही प्रयोग होता था । शास्त्रीय ग्रथों में गद्य का ही साम्राज्य है । विचार विनिमय का तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों के वर्णन का उचित माध्यम गद्य ही है ।शास्त्रार्थ के समय तो बोलचाल की शैली का प्रयोग हम पाते हैं; परन्तु युक्तियों तथा तर्कों के प्रदर्शन में प्रौढ़ गद्य का प्रयोग उपलब्ध होता है । हमारे दार्शनिकों ने अपने विचारों को सुचारुरूप से अभिव्यक्त करने के लिए विचार-मापक नवीन पारिभाषिक

शब्दों की उद्भावना कर रखी है । गद्य तो विचारों को प्रकट करने का प्रमुख माध्यम है । उसे बिना युक्ति तथा प्रौढ़ बनाए हम अपने दार्शनिक विचारों को यथार्थरूप से प्रकट ही नही कर सकते हैं । इसी दृष्टि से हमारे दार्शनिकों ने अपनी शैली पर दार्शनिक गद्य की दृष्टि की है । तथ्य तो यह है कि कोमल भावों को प्रकट करने की जितनी शक्ति संस्कृत गद्य में है उतनी ही या उससे अधिक दर्शन-शास्त्र के दुरूह तथ्यों के अभिव्यक्त करने की भी क्षमता उसमें विद्यमान है । दर्शन के पेचीदे, गूढ तथा सूक्ष्म तत्वों का प्रतिपादन संस्कृत भाषा के ही द्वारा हो सकता है यह जानकरों की माननीय सम्मति है । अतः देववाणी का गद्य प्राचीनता तथा पौढ़ता उपादेयता तथा भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से हमारे साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है- इस कथन में तनिक भी सन्देह नहीं । गूढ़ तत्वों को एकीभूत करके चलना ही दर्शनशास्त्रीय गद्य की महिमा है ।

(ग) साहित्यिक गद्यकाव्यों का स्रोत एवं विकासः-

वैदिक वाङ्मय से ही गद्य का दर्शन सम्प्राप्त होता है । लौकिक वाङ्मय में देखा जाय तो पौराणिक काल में भी गद्य का दर्शन होता है । इधर साहित्यक गद्यकाव्यों का स्रोत ईसा से 400 वर्ष पूर्व से ही दिखाई देता है । कात्यायन ने (4.2.60) सूत्र के अपने वार्तिक (आख्यानाख्यायिकेतिहास- पुराणेभ्यश्च) में आख्यान और आख्यायिका का उल्लेख अलग-अलग किया है । इन दोनों में स्वरूपतः भिन्नता का परिचय नहीं मिला परन्तु कोई भेद अवश्यमेव उस युग में विद्यमान था । पतंजलि ने यवक्रीत, प्रियङ्गम तथा ययाति का, आख्यान के उदाहरण में तथा वसितदन्ता , सुमनोत्तरा और भैमारथी (4.3.87) का, आख्यायिका के उदाहरण में नाम निर्देश किया है । काशिका में भी इन्ही नामों का उल्लेख इस सूत्र की व्याख्या में मिलता है परन्तु उनकी सत्ता का पता अभी तक नही चला ।

अब यहाँ पर गद्य काव्य की परम्परा को संक्षेपतः देखना है कि किस क्रम से लेखकों ने गद्य का लेखन किया । तो गद्य काव्य के लेखकों में सुबन्धु ही सर्वप्रथम लेखक हैं, जिनका ग्रंथ अलंकृत शैली में निबद्ध गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है । उनके समय व स्थान का यथार्थ परिचय अभी तक हमें नही चलता । बाणभट्ट के द्वारा प्रशंसित किए जाने के कारण ये बाण से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं । उन्होंने एक श्लेष के द्वारा न्यायवार्तिक के रचयिता

प्रसिद्धनैयायिक उद्योतकर का स्पष्टतः संकेत किया है ''न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम् ।'' उद्योतकर का समय षष्ट शताब्दी का अन्त तथा सप्तम् शताब्दी का आदि माना जाता है । इस निर्देश से सुबन्धु का समय उद्योतकर के अनन्तर होना चाहिए । ऐतिहासिक गवेषणा उपयुक्त सामग्री के अभाव में समय का यथार्थ निरूपण नही कर सकती । हर्षवर्द्धन (606-48ई0) के सभापण्डित होने से बाणभट्ट का समय 630-640 ई0 तक का मानना उचित प्रतीत होता है । बाण से पूर्ववर्ती होने के कारण सुबन्धु का समय 600 ई0 तक के आसपास तथा पश्चाद्वर्ती होने के कारण दण्डी का समय 650 ई0 के बाद मानना उचित जान पडता है । फलतः गद्यकाव्यों की इस महनीय लेखकत्रयी का समयक्रम इस प्रकार है - सुबन्धु, बाणभट्ट, दण्डी ।

सुबन्धु ने अपने ग्रन्थ में जिस विक्रमादित्य के कीर्तिशेष होने का उल्लेख बड़ी सौन्दर्यमयी भाषा में किया है (वासवदत्ता 10 पद्य)-

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरित नो कङ्कः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ।।

वह विक्रमादित्य कौन था ? इसका परिचय यथार्थरूप से नही मिलता है । अधिक विद्वानों का मत है कि यहां विक्रमादित्य का संकेत राजा यशोधर्मा से है, जिसने बालादित्य की सहायता से हूणों के पराक्रमी नरेश मिहिरकुल को परास्त कर भारत से निकाल बाहर किया था । इनका भी समय षष्ठ शतक का मध्य भाग है । अतः सुबन्धु का काल इसी

युग से कुछ हट कर होना चाहिए । इन सब निर्देशों से षष्ठ शतक का अंतिम भाग सुबन्धु के आविर्भाव के लिए उपयुक्त काल प्रतीत होता है ।

सुबन्धु, कालिदास तथा कामशास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन से अवान्तर कालीन हैं, क्योंकि इन्होंने वासवदत्ता में इन दोनों कवियों का उल्लेख किया है । शकुन्तला के द्वारा दुर्वासा के शाप के अनुभव का उल्लेख सुबधु को 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' से परिचित सिद्‌ध कर रहा है । (विफलमेव दुष्यन्तस्य कृते दुर्वाससः शापमनुबभूव शकुन्तला) ।' यह उल्लेख निश्चित रूप से शाकुन्तल का ही है, महाभारतीय कथा का नही; क्योंकि मूल कथा में दुर्वासा का शाप अनिर्दिष्ट घटना है । 'कामसूत्र विन्यास इव मल्लनागघटिकान्तारसामोदः' स्पष्टतः ही कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन का निर्देश करता है । फलतः सुबन्धु का समय निश्चित रूप से कालिदास (प्रथम शती या चतुर्थशती) तथा वात्स्यायन (पंचम शती) के पश्चाद्वर्ती है । इसलिए षष्ठ शती का अन्त उनका समय निर्णीत किया जाना उचित ही है ।

इनका एक ग्रन्थ है जो वासवदत्ता के नाम से प्रसिद्ध है ।[1] सुबन्धु की इस वासवदत्ता का सम्बन्ध प्राचीन भारत की प्रसिद्ध आख्यायिका वासवदत्ता तथा उदयन की प्रणय कहानी से कुछ भी नही हैं । यह पूरा कथानक कवि के

---

1 सं. शिवराम की व्याख्या के साथ कलकत्ता से प्रकाशित कृष्णमाचार्य की व्याख्या बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण तथा उपादेय है श्रीरंगम 1906

मस्तिष्क की उपज है केवल नायिका का अभिधान प्राचीन है ।

संक्षेप में कथानक यों हैः- राजा चिन्तामणि का पुत्र राजकुमार कंर्दपकेतु स्वप्न में एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या को देखता है, जिसके खोज में अपने मित्र मकरन्द के साथ वह निकल पड़ता है । रातंमें विन्ध्य की तलहटी में वृक्ष के नीचे ठहरता है वृक्ष पर बैठी हुई सारिका से पता चलता है कि पाटलिपुत्र की राजकुमारी ने स्वप्न में कन्दर्पकेतु को देखा है जिसे खोजने के लिए उसकी सारिका तमालिका निकलती है । इस प्रकार शुकदम्पति की सहायता से नायक व नायिका का मिलन होता है । दोनों के हृदय में परस्पर अनुराग है । परन्तु वासवदत्ता का पिता श्रृंगारशेखर उसका विवाह किसी विद्याधर से करना चाहता था । इस अड़चन के कारण दोनों प्रेमी एक जादू के घोड़े में चढ़कर विन्ध्याटवी को भाग निकलते हैं । कन्दर्पकेतु को सोते हुए छोड़कर वासवदत्ता बाहर जंगल में घूमने जाती हैं । वहां उसे पाने के लिए किरातों के दो झुण्डों में आपस मे लड़ाई होती है । वासवदत्ता एक ऋषि के आश्रम मे चुपके से चली जाती है जहां वह ऋषि के शाप से शिला बन जाती है । उधर जागने पर कन्दर्पकेतु वासवदत्ता के वियोग में आत्महत्या करने पर उद्यत होता है परन्तु आकाशवाणी उसे रोकती है । अन्त में वह जंगल में वासवदत्ता को खोज निकालता है जो उसके छूते ही मानुषी का रूप धारण कर लेती है । पीछे मकरन्द भी आकर इनसे मिलता है । ये सब राजधानी लौटते हैं । जहां सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं ।

इस कहानी की छानबीन करने से स्पष्ट है कि यहां लोककथा में सर्वत्र प्रचलित अनेक रूढ़ियां प्रेमोत्पादन के लिए कारणभूत मानी गयी हैं । कहानी की घटना बहुत ही स्वल्प तथा निर्जीव है । परन्तु सुबन्धु ने अपनी प्रतिभा पर आधारित सुन्दर वर्णनों के बल पर इनमें जान फूँक दी है । कवि यहां रोचक कहानी लिखने नहीं बैठा है । जिसके पात्र तथा घटनाएं कौतुक और विस्मय उत्पन्न करती हों, उसका मुख्य उद्देश्य वर्णन ही है और वर्णन की चातुरी के लिए ही सुबन्धु की ख्याति साहित्यजगत् में है । वासवदत्ता उन गद्यकाव्यों का प्रतिनिधित्व करती है, जिनमें कथानक नितान्त स्वल्प रहता है और वर्णन प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहता है । कथावृत्त को कवि अपने कौशल से खूब अलंकृत तथा विशेष चमत्कृत बनाना ही कवि का ध्येय है ।

सुबन्धु नाना विद्याओं तथा मीमांसा, न्याय, बौद्ध आदि नाना दर्शनों में नितान्त प्रवीण थे । इन्होंने श्लेष व उपमा के प्रसंग में रामायण, महाभारत तथा हरिवंश की अनेक प्रसिद्ध तथा अन्य प्रसिद्ध घटनाओं और पात्रों का प्रचुर निर्देश कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया है । उनकी सृष्टि में सत्काव्य वही हो सकता है जिसमें अलंकारों का चमत्कार, श्लेष का प्राचुर्य तथा वक्रोक्ति का सन्निवेश विशेष रूप से रहता है ।

"सुश्लेषवक्रघटनापटु सत्काव्यविरचनमिव ।"

इसी भावना से प्रेरित होकर सुबन्धु की लेखनी श्लेष की रचना में विशेष पटु है । उन्होंने स्वयं अपने बन्ध को

''प्रत्यक्षर-श्लेषमयप्रपञ्चविन्यासवैदग्धनिधि'' बनाने की प्रतिज्ञा की थी तथा इसी प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह उन्होंने इस गद्यकाव्य में किया है । सुबन्धु वस्तुतः श्लेष कवि हैं । इन्होंने सभङ्ग और अभङ्ग उभय प्रकार के श्लेषों का विन्यास कर अपने काव्य को विचित्र मार्ग का एक उत्कृष्ट उदाहरण बनाया है । परन्तु उनके श्लेष कहीं-कहीं इतने अप्रसिद्ध, अप्रयुक्त तथा कठिन हो गए हैं कि उन्हें समझने के लिए विद्वानों की बुद्धि चकराने लगती है । कहीं-कहीं तो बिना कोश की सहायता के पाठक एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता और उसके ऊपर ''कोश पश्यन् पदे-पदे'' की उक्ति सर्वथा चरितार्थ होती है ।

प्रसन्न श्लेष का यह उदाहरण रोचक तथा कमनीय है- ''नन्दगोप इव यशो – दयान्वितः, जरासन्ध इव घटित-संधि विग्रहः, भार्गव इव सदान - भोगः दशरथ इव सुमित्रोपेतः सुमन्त्राधिष्ठितश्च, दिलीप इव सुदक्षिणयान्वितो रक्षितगुश्च ।''

आशय यह है कि यशोदा से अन्वित नन्द गोप के समान वह राजा यश और दया से अन्वित था । जरा के द्वारा संगठित अङ्गोंवाले राजा जरासन्ध के समान वह संधि व विग्रह (युद्ध) का सम्पादक था । सदा नभ (आकाश) में गमन करने वाले (सदा+नभो+गः) शुक्र के सदृश वह सदा दान तथा भोग से संपन्न था ।

सुबन्धु ने विरोध, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि नाना अलंकारों से अपने काव्य को सजाया है, परन्तु इन सब में भी श्लेष के ही कारण चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया

है । अनेक उपमाएँ केवल शब्दसाम्य के कारण ही प्रतिष्ठत हैं । रक्तपाद के कारण कवि ने वासवदत्ता की उपमा व्याकरणशास्त्र में दी है । अष्टाध्यायी का एक पाद (4/2) ''तेन रक्तं रागात्'' सूत्र से समन्वित है उधर नायिका के भी पैर रक्तवर्ण के हैं । इस शब्द साम्य के कारण ही यहां उपमा का चमत्कार है । नायिका का स्वरूप अत्यन्त प्रकाशमान है और इसी कारण वह उस न्यायविद्या के समान बतलायी गयी है जिसके स्वरूप का निष्पादन तथा ख्याति उद्योतकर नामक आचार्य के द्वारा सम्पन्न है (न्यायविद्यामिव-उद्योतकरस्वरूपाम्) इस प्रकार के कौतूहल जनक उपमाओं के द्वारा पाठकों का मस्तिष्क अवश्य पुष्ट होता है तथा कवि की विलक्षण चातुरी का भी पूर्ण परिचय मिलता है किन्तु यह केवल शाब्दीक्रीड़ा है, जो पाठकों के हृदय को तनिक भी स्पर्श नही करती । इस खिलवाड़ मे कौतुक का ही विशेष स्थान है । शब्दों का यह तमाशा तमाशबीनो के लिए ही आनन्दवर्द्धक हो सकता है, रसिकों के लिए नही ।

परन्तु जहाँ सुबन्धु ने अपने श्लेष-प्रेम को छोंड़कर काव्य का प्रणयन किया है, वहाँ की शैली रोचक है तथा सहृदयों का पर्याप्त मनोरञ्जन करती है । साधारणतया गद्यकवि पद्यों को लिखने में कृतकार्य नही होता, परन्तु सुबन्धु का दृष्टान्त इससे विपरीत है । वे कोमल पद्यों की रचना में सर्वथा समर्थ हैं । सत्कविता की यह स्तुति बहुत ही कोमल शब्दों में विन्यस्त की गई है-

अविदित गुणापि सत्कवि-भणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।

अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालती-माला ।

जिसके गुणों का ज्ञान नहीं है वह भी सत्कवियों की वाणी श्रोताओं के कानों में मधु की कोमलता की धारा उड़ेलती है । गन्ध का परिचय न मिलने पर भी मालती पुष्पों की माला नेत्रों को बरबस खींचती है ।

वासवदत्ता की कल्पनाओं का प्रभाव पिछले कवियों पर भी पड़ा था । विरह दुःखों की अवर्णनीयता की यह अभिव्यंजना महिम्नः स्तोत्र के एक सुप्रसिद्ध पद्य की जननी है । सुबन्धु के शब्दों में-''त्वत्कृते याऽनया यातनाऽनुभूता सा यदि नभः पत्रायते सागरो मेलानन्दायते ब्रह्मा लिपिकरायते, भुजगपतिर्वा कथकायते तदा किमपि कथमप्यनेकैर्युगसहस्रैरभि-लिख्यते कथ्यते वा'' (वासदत्ता) । तुम्हारे लिये इसने जो यातनाएँ झेली हैं, वह यदि आकाश कागज बने, समुद्र दावात बने, ब्रह्मा लिखने वाला हो अथवा सर्पों का राजा कथक का काम करे तब किसी तरह से हजारों युगों में लिखी या कही जा सकती है । महिम्नः स्तोत्र का ''असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे'' वाला प्रख्यात पद्य इसी की छाया पर निर्मित बहुत रुचिर तथा रोचक हैं

सुबन्धु की यह प्रसन्न श्लेषमयी वाणी आलोचकों के लिए नितान्त आह्लादजनक है-

विषधरतोऽप्यति विषमः खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः ।
यदयं नकुलद्वेषी स कुलद्वेषी पुनः पिशुनः ।।

विद्वानों का यह कथन झूँठ नही है कि खल विषधरसर्प से भी अत्यन्त दुःखदायी होता है । देखिए विषधर तो केवल नकुल द्वेषी ही होता है, अर्थात् वह नकुल से ही द्वेष करता है । परन्तु न + कुल द्वेषी वह अपने कुल से कभी द्वेष नहीं करता । लेकिन ख़लों की विचित्र दशा होती है । वह तो अपने कुल से भी द्वेष तथा विरोध करता है । इस पद्य का प्राण है नकुलद्वेषी पद जो सुभता सभङ्ग के कारण नितान्त सरस तथा सरल है ।

कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है जो श्लेष के प्रपंच से रहित होने के कारण अत्यन्त मनोरञ्जक है । प्रभात का वर्णन इसका स्पष्ट उदाहरण है परन्तु यहां भी उपमा तथा उत्प्रेक्षा का साहित्य नही है । सच तो यह है कि सुबन्धु के काव्य में कलापक्ष का ही साम्राज्य है । उनकी यह 'वासवदत्ता' उस विशाल सुसज्जित प्रासाद के समान है, जिसका प्रत्येक कक्ष चित्रों से भूषित है तथा अलंकारों के प्राचुर्य से जो दर्शकों की आखों को हमेशा चाकाचौंध किया करता है । कुन्तक के द्वारा वर्णित 'विचित्र मार्ग' का सबसे सुन्दर उदाहरण है सुबन्धु की यही कृति । बाणभट्ट की आलोचना वस्तुतः श्लाघ्य तथा तथ्यपूर्ण है जिसमें वासदत्ता के द्वारा कवियों के दर्प को चूर्ण कर देने की बात कही गयी हैः-

कवीनामगलद् दर्पो नूनं वासवदत्तया ।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम् ।।

सुबन्धु तथा बाणभट्ट की शैली में महान् अंतर है । सुबन्धु का गद्य यदि अक्षराडम्बर का साक्षात् रूप है, तो बाण का गद्य स्निग्ध रस पेशल पांचाली का भव्य प्रतीक है । सुबन्धु ने आँख मूँदकर सन्दर्भ का बिना विचार किए श्लेष का ही व्यूह खड़ा किया परन्तु बाणभट्ट की दृष्टि वर्ण्यविषय तथा अवसर के ऊपर गड़ी हुई है । वे जो लिखते हैं, वह अवसर तथा सन्दर्भ से संघर्ष नही करता स्निग्ध रसपेशल तथा हृदयावर्जक गद्य का जीवित प्रतीक बाणभट्ट सहृदयों के हृदय को स्पन्दित करता है; जब कि सुबन्धु का गद्य केवल मस्तिष्क से ही टक्कर खाता हुआ कथमपि प्रवेश पाता है । दण्डी से भी सुबन्धु का पार्थक्य स्पष्ट है । दण्डी की जैसी तीव्र निरीक्षणशक्ति तथा यथार्थवादी शब्दविन्यास का अभाव वासवदत्ता के लोकप्रिय न होने का पर्याप्त हेतु है । सुबन्धु, बाणभट्ट तथा कविराज के साथ 'वक्रोक्ति मार्ग के निपुण कवि माने गये हैं अवश्य[1], परन्तु बाण की कादम्बरी के सामने वासवदत्ता का काव्य पण्डितों की गोष्ठी का ही केवल विषय है । विदग्धों की गोष्ठी से उसका सीधा सम्पर्क नहीं है ।

इस तरह यह निश्चयेन कहा जा सकता है कि सुबन्धु की लेखनी से ही लौकिक साहित्यिक गद्य का प्रादुर्भाव होता है । वैदिक काल से आरम्भ कर मध्यकाल तक गद्य के विकसित होने का इतिहास बड़ा ही मनोरम है । गद्य के दो

---

1. **सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः ।**

प्रकार के रूप मिलते हैं वैदिककाल का सीधा-सादा बोलचाल का गद्य तथा लौकिक संस्कृत का प्रौढ़ समास बहुल गाढ़बन्धबाला गद्य । दोनों, प्रकार के गद्यों में अपना विशिष्ट सौन्दर्य तथा मोहकता है । वैदिक गद्य में सीधे-सादे छोटे-छोटे शब्दों का प्रयोग हम .पाते है । ''ह'' ''वै'' 'उ' आदि अव्यय वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त हैं इनके प्रयोग से वाक्य में रोचकता तथा सुन्दरता का समावेश हो जाता है । समास की विशेष कमी है । उदाहरणों का बहुल प्रयोग है । उपमा तथा रूपक का कमनीय सन्निवेश वैदिक गद्य को विदग्धों की दृष्टि में हृदयावर्जक बनाए हुए है इस कथन की पुष्टि में कालक्रम से गद्य का निरीक्षण आवश्यक होगा ।

''वात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् । स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत् । तदेकमभवत् तल्ललाममभवत् तन्महदभवत् तज्येष्ठमभवत् तद् ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत् सत्यमभवत् तेन प्रजायत ।'' अथर्व0 15 काण्ड 1 सूक्त)

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः । आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालं सर्वाभ्य एवैनं तद्देवताभ्योऽनन्तरायं निर्वपन्ति । (ऐतरेयब्राह्मण-1) ।

''यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति तद् भूमा । अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।''

(छान्दोग्य-7/24) ।

वैदिकगद्य तथा लौकिक संस्कृत के गद्य को मध्य में मिलाने का काम पौराणिक गद्य करता है । यह गद्य नितान्त आलंकारिक तथा प्रासादिक है । श्रीमद्भागवत् तथा विष्णुपुराण का गद्य इसका स्पष्ट उदाहरण है । इसमें साहित्यिक गद्य का समग्र सौन्दर्य विद्यमान् है । उसमें विशेष गाढबन्धता की कमी अवश्य है, परन्तु भागवत का गद्य तो नितान्त प्रौढ़ अलंकृत तथा भावाभिव्यंजक है । (विष्णु0 4/13/4)

यथैव व्योम्नि वह्निपिण्डोपमं त्वामहमपश्यं तथैवाद्याग्रतो गतमप्यत्र भगवता किंचिन्न प्रसादीकृतं विशेषमुपलक्ष्यामीत्युक्ते भगवता सूर्येण निजकण्ठादुन्मुच्य स्यमन्तकं नाम महामणिवरमवतार्य एकान्ते न्यस्तम् ।

शिलालेखों के उपलब्ध गद्य भी नितान्त प्रौढ़ आलंकारिक तथा हृदयावर्जक हैं

''प्रमाणमानोन्मानस्वरगतिवर्णसारसत्त्वादिभिः परमलक्षणव्यंजनै-रुपेतैकांतमूर्तिना स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयं-वरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना सेतुं सुदर्शनतरं कारितम् ।'' (रुद्रदामन का गिरनार लेख 150 ई0)

शास्त्रीयगद्यः-

शास्त्रीयगद्य के अन्तर्गत भी कुछ ग्रन्थों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है । जिनके माध्यम से समाज को एक नयी दिशा सम्प्राप्त होती है और वह इस नश्वरसंसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है । इसके दिशा निर्देशक हमारे प्राची के कविगण ही हैं ।

(1) मुकुटताडितकः-

महाराजा भोज ने बाण की रचनाशैली की प्रशंसा में एक नवीन तथ्य का उद्‌घाटन किया है -

"यादृग् गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धेऽपि तादृशः ।।"

(सरस्वती -कण्ठाभरण 2/20)

कि गद्य के लेखन में बाण का जितना चमत्कार दृष्टिगोचर होता है, उतना पद्य लेखन में भी ।इस कथन का आधार क्या है? निःसन्देह 'पार्वती-परिणय' नामक नाटक नहीं, जो आन्ध्र-देशवासी वामनभट्ट बाण की रचना है । 'चण्डीशतक' के आधार की भी कल्पना नहीं कर सकते । तो वह कौन ग्रन्थ है? क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य -विचारचर्चा' में पद्यकादम्बरी का उल्लेख किया है, जिसमें बाणभट्ट ने ही कादम्बरी की कथा को पद्यों के माध्यम से निबद्ध किया था । सुभाषित ग्रन्थों में उद्‌धृत पद्यों के साक्ष्य पर बाण का कोई पद्यग्रन्थ अवश्य था, जिससे ये पद्य यत्र-तत्र उद्‌धृत किये गये हैं । बाण की रचनाओं की चर्चा के अवसर पर हम नलचम्पू के टीकाकार चण्डपाल और गुणविजयगणि के द्वारा निर्दिष्ट संकेत को हटा नहीं सकते, जिसमें उन्होंने बाण के द्वारा रचित 'मुकुटताडितक' नामक नाटक का निर्देश तथा तत्रस्थ एक पद्य को उद्‌धृत किया है । इस नाम के नाटक की सत्ता के विषय में भोजराज का 'श्रृंगारप्रकाश' भी प्रमाण उपस्थित करता है ।भोज ने भीम के द्वारा कथित दो श्लोकों को उद्‌धृत किया है । 'मुकुटताडितक' नाटक महाभारत के कथानक के ऊपर आधृत है, जिसमें भीम दुर्योधन को मारकर उसके मुकुट को तोड़-फोड़ डालता है । 'वेणीसंहार' के कथानक से इसमें भिन्नता भी है । वहाँ तो वेणी का केवल संयमन ही किया गया है, परन्तु यहाँ तो दुर्योधन की राजसत्ता का भव्य द्योतक मुकुट ही भीम द्वारा

ध्वस्त कर दिया गया है । भोज ने नाटक के केवल नाम का निर्देश किया है, परन्तु नलचम्पू के टीकाकारों ने स्पष्टतः उसे बाणभट्ट की रचना मानी है । जब तक कोई अन्यथा प्रमाण न मिले, तब तक 'मुकुटताडितक' को भी बाणभट्ट की ही अनुपलब्ध रचना माननी चाहिए । शास्त्रीय दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महंत्त्व है ।

(2) हर्षचरितः-

संस्कृत-साहित्य में यह सबसे पुरानी उपलब्ध आख्यायिका है । ''ओजःसमासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्'' उसकाल में गद्य का जीवन समास-बहुलता मानी जाती थी । इसी साहित्यिक नियम के अनुसार इस गद्यकाव्य की रचना की गयी है । 'हर्षचरित' में आठ उच्छ्वास हैं । प्रथम उच्छ्वास के आरम्भ में ग्रन्थकार ने 21 श्लोक लिखें हैं, जिनमें कपितय सामान्य बातों के अनन्तर व्यास, वासवदत्ता, भट्टार, हरिश्चन्द्र, सातवाहन, प्रवरसेन, भास, कालिदास, बृहत्कथा जैसे मान्य कवियों तथा ग्रंथों की प्रशस्त स्तुति है । यह वर्णन कवियों के समय-निर्देशन के लिए नितान्त महत्त्वशाली है । ये समस्त ग्रन्थ और ग्रन्थकार सप्तम शताब्दी से पूर्ववर्ती हैं । शुरू के तीन उच्छ्वास बाण की संक्षिप्त जीवनी का वर्णन करते हैं और इस प्रकार 'आत्मकथा' के परिचायक हैं । इनमें वात्स्यायन वंश में जन्म, पूर्वजों का चरित, बाण का नाना संगियों के साथ देशदेशान्तर में भ्रमण तथा प्रत्यावर्तन आदि प्रथम उच्छ्वास में वर्णित है । दूसरे उच्छ्वास में हर्ष के भाई कृष्ण का लेखहारक मेखलक बाण को हर्ष के पास चलने का निमन्त्रण देता है । जिसे स्वीकार कर बाण अपने गाँव से चलकर तीन पड़ावों के बाद 'अजिरवती' के तट पर मणितारा गाँव में पड़ी छावनी में जाकर श्रीहर्ष से भेंट करता है और उसका प्रेम तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है । तृतीय उच्छ्वास में बाण घर लौट आता है और अपने चचेरे भाइयों के कहने पर हर्ष का चरित कहने बैठता है ।

आरम्भ में श्रीकण्ठ जनपद, उसकी राजधानी थानेश्वर, वंश के संस्थापक पुष्पभूति की कथा के अनन्तर तान्त्रिक साधनों में उनके सहायक भैरवाचार्य का विशद वर्णन है । यहीं से तृतीय उच्छ्‌वास सम्पन्न हो जाता है ।

चतुर्थ उच्छ्‌वास में वंश के संक्षिप्त वर्णन के अनन्तर राजाधिराज प्रभाकरवर्धन तथा उनकी महिषी यशोमती का वर्णन है तथा इनके प्रथम पुत्र राज्यवर्धन की जन्मकथा बड़े विस्तार तथा रोचकता के साथ वर्णित है । अनन्तर हर्ष तथा राज्यश्री के जन्म का अतिविस्तृत वर्णन है । यशोमती का भाई अपने पुत्र 'भंडि' को राजकुमारों का साथी बनाता है । मौखरि ग्रहवर्मा के साथ राज्यश्री का विवाह बड़े ठाटबाट से तथा राजसी वैभव के साथ सम्पन्न होता है । पञ्चम उच्छ्‌वास से राजकुमारों की विजयगाथा आरम्भ होती है । हूणों को जीतने के लिऐ राज्यवर्द्धन हर्ष सेना के साथ प्रस्थान करता है । हर्ष शिकार खेलने के लिए जाता है और पिता की असाध्य बीमारी का हाल सुनकर राजधानी लौट आता है । प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु से पूर्व ही यशोवती सती हो जाती है और मृत्यु के अनन्तर समस्त प्रजा महान् शोक से संतप्त हो जाती है । षष्ठ उच्छ्‌वास में राज्यवर्धन के लौटने तथा पिता द्वारा हर्ष को राज्य देकर स्वयं छुटकारा पाने का प्रथमतः वर्णन है । ग्रहवर्मा की मृत्यु तथा मालवनरेश द्वारा राज्यश्री को बंदी बनाना सुनकर उसका प्रतिकार करने के लिए राज्यवर्द्धन अकेले ही जाता है, वह मालव-नरेश को तो परास्त करता है, परन्तु गौडेश्वर शशांक

के हाथ स्वयं मारा जाता है । हर्ष इसका बदला लेने की गम्भीर प्रतिज्ञा करता है ।

सप्तम उच्छ्वास श्रीहर्ष के दिग्विजय का रोचक वर्णन प्रस्तुत करता है । वह अपनी विपुल सेना के साथ दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता है । इसी समय प्राग्ज्यौतिषेश्वर भास्करवर्मा का दूत हंसवेग अनेक प्रकार की भेंट तथा मैत्री का संदेश लेकर आता है । हर्ष सेना के साथ विन्ध्य प्रदेश में पहुँचता है तथा मालवराज पर विजयी होता है । भंडि मालव-राज की सेना तथा खजाने पर अधिकार करता है । अष्टम उच्छ्वास में हर्ष एक शबर युवक की सहायता से अपनी बहिन 'राज्यश्री' को खोजने का प्रयास करता है, जो कारागृह से निकलकर विन्ध्य के जंगल में इतस्ततः भटकती है । वह बौद्ध भिक्षु दिवाकरमित्र के आश्रम में पहुँचता है जहाँ एक भिक्षु आग में जलने के लिए तैयार किसी विपन्न स्त्री का पता देता है । हर्ष वहाँ जाकर अपनी बहन को समझा-बुझा कर दिवाकरमित्र के आश्रम में ले आता है, जो राज्यश्री को हर्ष के अनुसार जीवन यापन की शिक्षा देता है । हर्ष भी सूचित करता है कि दिग्विजय-विषयक प्रतिज्ञा की पूर्ति होने पर वह स्वयं राज्यश्री के साथ ही गेरुआ वस्त्र धारण कर लेगा ।

हर्षचरित के इस क्रमिक सारांश से स्पष्ट पता चलेगा कि वह कोई आधुनिक ढंग का रूखा-सूखा घटनाप्रधान इतिहास नहीं है, प्रत्युत विशुद्ध साहित्यिक शैली में निबद्ध एक रोचक वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्य है । आधार है राजा हर्ष

का इतिहासप्रख्यात जीवन, परन्तु उसे अलंकृत तथा सजाने का कवि ने अपनी ओर से खूब प्रयत्न किया है । इसलिए यह काव्यात्मक आख्यायिका अपने विशिष्ट काव्य प्रकार का आदर्श मानी जाती है । सामान्य रीति से वीर-रस की प्रधानता है, परन्तु करुणरस के उन्मेष में भी बाण ने अपनी लेखनी को सिद्ध लेखनी दिखलाया है । मरणासन्न प्रभाकरवर्द्धन का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया गया है । सतीवेश में यशोवती का वर्णन तथा उसका अन्तिम विलाप (पञ्चम उच्छ्‌वास), राज्यवर्द्धन का शोकवर्णन भी बाण के रससिद्ध काव्य के कुछ उज्ज्वल अंश हैं । दिग्विजय के लिए श्रीहर्ष के प्रयाण का वर्णन भी जीता-जागता तथा स्वानुभूत प्रतीत होता है । सप्तम उच्छ्‌वास में सायंकाल, वनग्राम (जंगली गॉव) तथा वहाँ के घरों का वर्णन बड़ी सरलता से किया गया है । हर्षचरित इस काव्यवैभव के लिए ही प्रख्यात नहीं है, प्रत्युत वह सप्तम शती के भारत का एक अत्यन्त उज्ज्वल तथा प्रामाणिक चित्र खींचता है । हर्ष के जीवन की घटनावली ज्ञात इतिहास से कहीं अधिक अनमोल जमती है । उस युग की सांस्कृतिक उन्नति का यह परम परिचायक ग्रन्थरत्न है । इसकी सहायता से हम उस काल की वेष-भूषा, आचार-विचार, सेवा के प्रकार तथा प्रयाण की कला का जीता जागता चित्र पाते हैं । राज्यश्री के विवाह के अवसर पर शिल्पियों ने युग के अनुरूप जो भूषणसज्जा तैयार की है वह कला की दृष्टि से अनुपम है । इसी प्रसंग में नाना प्रकार के बाँधनू की रँगाई के कपडों का वर्णन बड़ा ही रोचक, ज्ञानवर्द्धक तथा सांस्कृतिक है । इस दृष्टि से

हर्षचरित का मूल्य तथा महत्त्व ऐतिहासिकों के लिए बहुत ही अधिक है ।

(3) कादम्बरीः-

बाण की उत्कृष्ट रचना कादम्बरी ही है । कादम्बरी की कथा एक जन्म से सम्बद्ध न होकर चन्द्रापीड तथा पुण्डरीक के तीन जन्मों से सम्बन्ध रखती है । आरम्भ में विदिशा के राजा शूद्रक के प्रभाव तथा वैभव का परिचायक वर्णन है । उसके दरबार में एक परम सुन्दरी चाण्डालकन्या 'वैशम्पायन' नामक शुक को लेकर आती है जो मनुष्य की बोली में बोलता है और श्रोताओं के परम मनोरञ्जन का साधन प्रस्तुत करता है । यही कादम्बरी की कथा आरम्भ करता है जिसके साथ वह स्वयं सम्बद्ध रहता है । इसी के बीच में ऋषि जाबालि के द्वारा वर्णित राजा चन्द्रापीड और उनके मित्र वैशम्पायन की कथा आती है । राजा चन्द्रापीड दिग्विजय के प्रसंग में हिमालय प्रदेश में जाता है । किन्नर-मिथुन के पीछे वह बड़ी दौड़ लगाता है । वह मिथुन तो अन्तर्हित हो जाता है और राजा 'अच्छोद' नामक दिव्य जलाशय के पास पहुँचता है, जहां वह अपने घोड़े को बाँधकर शिवालय में वीणावादिनी महाश्वेता के संगीत से आकृष्ट होकर जाता है और उससे परिचय पाकर उसकी प्रिय सखी कादम्बरी का दर्शन करता है । चन्द्रापीड और कादम्बरी के हृदय में दोनों के प्रति नैसर्गिक मधुर आकर्षण उपजता है, परन्तु प्रणय की पूर्ति के पहले ही राजा अपनी राजधानी उज्जयिनी लौट आता है । ताम्बूल-करंकवाहिनी पत्रलेखा कादम्बरी के

वास्तविक प्रेम का सन्देश लाती है और यहीं पूर्वकादम्बरी का अन्त होता है ।

उत्तरभाग में चन्द्रापीड महाश्वेता के पास लौटता है और अपने प्रिय मित्र वैशम्पायन की विपत्ति का हाल जानलेता है, जो महाश्वेता से प्रणय· स्थापित करने का उद्योग करता है, परन्तु उस तपस्विनी का कोपभाजन बन तोता बन जाता है । चन्द्रापीड अपने सुहृद् की विपत्ति से शोकाक्रन्त होकर अपना शरीरत्याग करता है । समाचार पाकर कादम्बरी आती है और विलाप करती है । चन्द्रापीड के माता-पिता विलासवती और तारापीड-इस दुःखद घटना से नितान्त उद्विग्न हो उठते हैं (जाबालि-कथा की समाप्ति) । कपिञ्जल अपने मित्र शुक (जो वास्तव में मन्त्रिपुत्र वैशम्पायन है) को खोजने के लिए जाबालि के आश्रम में आता है और मित्र की दुरवस्था से दुःखित होता है । शुक उड़कर एक चाण्डाल के पास चला जाता है । जो उसे अपनी कन्या को देता है और वही चाण्डालकन्या उसे शूद्रक के दरबार में लाती है । वह चण्डाल-कन्या वस्तुतः पुण्डरीक की माता लक्ष्मी है तथा पुण्डरीक ही उस जन्म का वैशम्पायन तथा इस जन्म का शुक है । राजा शूद्रक स्वयं पूर्वजन्म का राजा चन्द्रापीड है, जो कभी स्वयं चन्द्रमा था । परन्तु शापवश भूतल पर आया था । लक्ष्मी अन्तर्हित हो जाती है तथा शूद्रक और शुक का भी शरीरपात हो जाता है, जिससे चन्द्रापीड का पड़ा हुआ मृतक शरीर पुनर्जीवित हो जाता है और पुण्डरीक भी आकाश से उतर आता है । पुण्डरीक से महाश्वेता का तथा

चद्रपीड से कादम्बरी का मिलन होता है और ये प्रणयी-युगल सुख से अपना जीवन बिताते हैं ।

कादम्बरी बाणभट्ट की सर्वोत्कृष्ट रचना है । इसके दो खण्ड हैं- पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध । पूर्वार्द्ध पूरे ग्रन्थ का दो तिहाई भाग है तथा यह बाण की रचना है । उत्तरार्द्ध पूरी कादम्बरी का केवल तृतीयांश है और पुलिन्दभट्ट की कृति है । कादाम्बरी संस्कृत के गद्य- साहित्य का समुज्जल हीरक है । भाषा और भाव, शब्द और अर्थ-दोनों का उचित सम्मिलन इस गद्य-काव्य में लक्षित होता है । वर्णनों की सुन्दरता की बात क्या पूँछी जाय? कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी तथा साहसप्रेमी शबर-सैन्य का रोमांचकारी वर्णन है, तो कहीं धर्म की साक्षात् मूर्ति, सदस्यता के परम अवतार, आध्यात्मिकता के ज्वलन्त निदर्शन जाबालि मुनि तथा उनके परम पावन मनभावन आश्रम की सुभग शोभा दर्शकों का हृदय लुभा रही है । कहीं बाल्यकाल में गन्धर्वों के अङ्क में विहार करने वाली कलभाषिणी वीणा की तरह मञ्जुवादिनी स्निग्धहृदया महाश्वेता की विरह- विधुरा मूर्ति का दर्शन मिलता है, तो कहीं आलोक-सामान्य सौख्यों का अनुभव करने वाली गंधर्वराज-कन्या सरस हृदया कमनीय-कलेवरा कादम्बरी की प्रेममयी कथा श्रोताओं के चित्त चञ्चरीक को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है । सर्वत्र ही अलंकारों की मधुर झङ्कार कानों को सुख दे रही है; रागात्मिकता वृत्ति की सुगम व्यञ्जना हृदय को खिला रही है । सच तो यह है कि अलंकार तथा रस के मधुर मिलन में, भाषा तथा भाव के परस्पर संपर्क में, कल्पना और वर्णना के अनुरूप संघटन

में-कादम्बरी संस्कृतसाहित्य में अनुपम है- अद्वितीय है । कादम्बरी रसिक हृदयों को मत्त कर देनेवाली सच्ची 'कादम्बरी' है- मीठी मदिरा है । यही शास्त्रीयगद्य की परम महिमा है जो रसिक जनों को आकृष्ट करती रहती है ।

बाणभट्ट सरस्वती देवी के वरद पुत्र थे । इनका गद्यकाव्य कादम्बरी अपने विषय में अद्वितीय माना जाता है । प्राचीन काल में ही समालोचकों की दृष्टि बाणभट्ट को वाणी का साक्षात् अवतार मानती हैं । उनका कथन है कि जिस प्रकार अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिए शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी उसी भाँति पुरुषरूप में अतिशय चमत्कार पाने की इच्छा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का रूप धारण किया-

जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि ।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति ।।

बाणभट्ट के काव्य में चरित्र-चित्रण की अद्भुत कला है । उनके पात्र इतनी सजीवता के साथ चित्रित किये गये हैं कि उनकी मञ्जुल मूर्ति हमारे नेत्रपटल के सामने आकर उपस्थित हो जाती है । प्रजा-पालक तथा पराक्रमी महाराज शूद्रक की वीर मूर्ति सबके हृदय में उत्साह का संचार करती है । सौम्य तापस हारीत ज्ञानवृद्धजाबालि, वदान्य नरपति तारापीड, शास्त्र तथा लोककुशल अमात्य शुकनास, शुभ्रवसना तपस्विनी महाश्वेता, कमनीयकलेवरा कादम्बरी- कवि की तूलिका से चित्रित ये पात्र पाठकों के चित्त पर अपना अमिट प्रभाव डालते हैं । सच्चा कवि वही होता है, जो संसार का

विविध अनुभव प्राप्त कर उसके मार्मिक पक्ष के ग्रहण में समर्थ होता है । इसी कसौटी पर कसने से बाणभट्ट की कविता खरे सोने के समान खरी उतरती है । कवि का लोकवृत्त-ज्ञान नानात्मक तो था ही, पर उसकी यथार्थता और भी चमत्कारिणी है । बाणभट्ट कभी तो सुख समृद्धि तथा भोग विलास के जीवन चित्रित करने में अनुरक्त दीख पड़ते हैं, तो कभी वे तपस्विनी जीवन की मार्मिक अभिव्यञ्जना में निरत दिखाई पड़ते हैं । तथ्य यह है कि बाणभट्ट का अनुभव ही विशाल, विविध तथा यथार्थ था । बाण के पात्र वैयक्तिकता से मण्डित विशिष्ट प्राणी है ।

कवि अपने पात्रों के अन्तस्तल में प्रवेश करता है, उनकी अवस्था-विशेष में होनेवाली मानस-वृत्तियों का विश्लेषण करता है तथा उचित पदन्यास के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करता है । पुण्डरीक के वियोग में महाश्वेता के हार्दिक भावों की रम्य अभिव्यक्ति बाण की ललित लेखनी का चमत्कार है । चन्द्रापीड के जन्म के अवसर पर राजा तथा रानी के हृदयगत कोमल भावनाओं का चित्रण बड़ा ही रमणीय तथा तथ्यपूर्ण हुआ है । चन्द्रापीड के प्रथम दर्शन के अनन्तर स्वदेश लौट आने पर कादम्बरी के भावों का चित्रण कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सुन्दर निदर्शन है । बाण की दृष्टि में प्रेम भौतिक सम्बन्ध का नामान्तर नहीं है, प्रत्युत वह जन्मान्तर में समुद्भूत आध्यात्मिक संबंध का परिचायक है । कादम्बरी 'जन्मान्तर-सौहृद' का सजीव चित्रण है । विस्मृत अतीत तथा जीवित वर्तमान को स्मृति के द्वारा एक सूत्र में बाँधने वाली यह प्रणयकथा है । बाणभट्ट ने दिखलाया है

कि सच्चा प्रेम कुल और समाज की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता । वह संयत तथा निष्काम होता है । काल की कराल छाया न उसे आक्रान्त कर सकती है, न काल का प्रवाह उसकी स्मृति को मलिन और धुँधला बना सकता है । महाश्वेता तथा पुण्डरीक का, कादम्बरी तथा चन्द्रापीड का अनेक जन्मों में अपनी चरितार्थता तथा सिद्धि प्राप्त करने वाला प्रेम इस आदर्श प्रणय का सच्चा निदर्शन है ।

कवि ने जिस प्रणय की मनोरम कहानी प्रस्तुत की है वह प्रणय भी बाहरी चाकचिक्य से उत्पन्न रूप-छटा पर अनुरक्तिमात्र नहीं, प्रत्युत वह दो सहृदय व्यक्तियों के अन्तःस्थल को परस्पर बाँधने वाला और अनेक जन्मों तक अपनी अभिव्यक्ति करने वाला अलौकिक आनन्दोत्पादक विकार है । कादम्बरी की प्रणयलीला केवल एक ही जन्म से सम्बन्ध नहीं रखती, बल्कि वह तीन जन्मों के परिवर्तन होने पर भी अपने माधुर्य में किसी प्रकार के ह्रास का अनुभव नहीं करती । शरीर का परिवर्तन भले हो जाय, कर्मवश प्राणी नाना योनियों में भले ही भ्रमण करता रहे, परन्तु उसका दृढ़ प्रेम सदा ही उसका अनुगमन किया करता है । कादम्बरी की कथा हमें इस महान् तथ्य की सत्यता भली-भाँति प्रमाणित करती है ।

शुकनास ने राजकुमार चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोषों के वर्णन-प्रसंग में नीति तथा काव्य दोनों का बड़ा ही रम्य चमत्कार प्रस्तुत किया है । रूपों का विन्यास तथा उपमा का निवेश इतना सुन्दर है कि लक्ष्मी की मूर्ति अपने पूर्ण वैभव

के साथ हमारे नेत्रों के सामने सजीव हो उठती है । "लक्ष्मी तृष्णारूपी विषलता के लिए संवर्धन की जलधारा है, इन्द्रियरूपी मृगों को लुभाने के लिए व्याध की गीति है, सच्चरितरूपी चित्रों को पोंछ डालने के लिए धूम की रेखा है, यह सब अविनयों की पुरःसर पताका है, क्रोधावेग-रूपी ग्राहों की उत्पत्ति के लिए नदी है; विषयमधु की यह आपानभूमि है ।"- यह वर्णन रूपक की छटा से कमनीय है । अन्यत्र विरोधाभास का अपूर्व विलास है । कवि के विचार बड़े ही उदार तथा उदात्त हैं, लक्ष्मी के कारण उत्पन्न होनेवाले समस्त दोषों का इतना सूक्ष्म वर्णन कवि की दूरंगमा दृष्टि का प्रत्यक्ष फल है । महाश्वेता का दर्शन कर पुण्डरीक की कामवासना का चित्रण बाण के मनोवैज्ञानिक ज्ञान का पूर्ण परिचायक है । कवि कह रहा है कि पुण्डरीक के हृदय में नये आनेवाले अतिथि मदन के लिए प्रत्युद्‌गमन करने वाले रोमों का उद्‌गमन हो गया । मुनि के हाथ की रुद्राक्षमाला कम्प के कारण हिलने लगी, मानों वह व्रत के भंग से डर गई हो !

बाणभट्ट की शैली गद्य कवियों के लिए आदर्शभूत है । वे प्रभावशाली गद्य के लिखने में नितान्त प्रवीण हैं । जो आलोचक बाण के गद्य को भारतीय जंगलों के समान भयावह तथा हिंस्र पशुओं के सदृश अप्रसिद्ध तथा कठिन शब्दों से मण्डित बतलाते हैं, वे सचमुच यथार्थता से कोसों दूर हैं । चित्रण की सजीवता तथा प्रभावशालिता उत्पन्न करने के लिए बाणभट्ट ने समासबहुल ओजोगुण से मण्डित शैली का स्थान-स्थान पर अवश्य आश्रय लिया है, परन्तु अन्यत्र

छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग कर उन्होंने अपनी शैली को सशक्त तथा प्रभावोत्पादक बनाया है । कवि किसी एक शैली का क्रीत दास नहीं होता । वह तो विषय के अनुसार अपनी शैली को परिवर्तित किया करता है । जिस बाणभट्ट ने अटवी तथा सन्ध्या के वर्णन में दीर्घ समासों की छटा दिखलाई है, वे ही विंरह-वर्णन के अवसर पर लघुकलेवर प्रासादिक वाक्यों की शोभा प्रस्तुत करते हैं । बाण की लेखनशैली विषय-वर्णन के नितान्त अनुरूप, उचित तथा सरस है । जहाँ हृदय के भावों की अभिव्यञ्जना है वहाँ न तो समासों का प्रयोग है और न वाक्यों की दीर्घता है; छोटे-छोटे वाक्यों में ही वहाँ उचित वर्णन है । कपिञ्जल ब्रह्मचारी पुण्डरीक की मदनव्यथा से संतप्त होने के अवसर पर भर्त्सना कर रहा है-

सखे पुण्डरीक! नैतदनुरूपं भवतः, क्षुद्र-जनक्षुण्ण एष मार्गः । धैर्यधना हि साधवः । किं यः कश्चित् प्राकृत इव विकलीभवन्तमात्मानं न रुणत्सि । क्व ते तद् धैर्यम्? क्वासौ इन्द्रिय-जयः ?

उपदेश देने के समय विषय को हृदयंगम तथा प्रभावशाली बनाने के विचार से इसी शैली का प्रयोग है । मन्त्री शुकनास युवराज चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोषों को दिखलाते समय लघु वाक्यों का प्रयोग कर रहा है-

लब्धापि दुःखेन पाल्यते । न परिचयं रक्षति । नाभिजनमभीक्षते । न रूपमालोकयते । न कुलक्रममनुवर्तते । न शीलं पश्यति ।न वैदग्ध्यं गणयति ।

परन्तु राजवैभव, नारी की रमणीयता के चित्रण के अवसर पर कवि दीर्घ समास तथा अलंकारों से मण्डित वाक्यों का प्रयोग करता है, जिससे पाठकों के हृदय पर वर्णन अपने संशिलष्ट तथा संघटित रूप में अपने अंग-प्रत्यङ्ग से परिपूर्ण भाव में अपना प्रभाव जमावें तथा उनके नेत्रों के सामने वस्तु का पूर्ण चित्र झलक उठे । शूद्रक, जाबालि का आश्रम, विन्ध्याटवी, महाश्वेता तथा कादम्बरी का वर्णन इसी शैली में प्रयुक्त होने से इतने सुन्दर तथा प्रभावशाली हैं । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बाण के गद्य में शैली तथा वर्ण्य विषय में अद्‌भुत सामञ्जस्य है ।

बाण संस्कृत भाषा के सम्राट् हैं । शब्दों पर उनकी अद्‌भुत प्रभुता है, गद्य में अद्‌भुत प्रवाह है । कहीं उनका गद्य घोर रोर करने वाली बरसाती नदियों की भाँति बड़े वेग से बहता है, तो कहीं वह शरत्कालीन शान्त सरिता के समान मन्द गति से चलकर अपूर्व सौन्दर्य दिखलाता है । वाक्यों के नवीकरण की विलक्षण योग्यता बाणभट्‌ट में है । 'कथितपदता' तो ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती । सर्वत्र नवीन पदविन्यास, नूतन अर्थाभिव्यक्ति, अभिनव भावभंगी आलोचकों के लिए विस्मयावह आनन्द का साधन बनती है । संस्कृत गद्य में कितनी ओजस्विता आ सकती है, कितना मंजुल प्रवाह हो सकता है, कितनी भावाभिव्यञ्जना हो सकती है- इसकी पूर्ण परिचायक बाणभट्‌ट की कादम्बरी है । इसीलिए प्राचीन आलोचक धर्मदास मुग्ध होकर बाण की स्तुति में यथार्थ रूप से कह रहे हैं -

रुचिर-स्वर-वर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति ।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ।।

इस तरह से गद्यकाव्य परम्परा को संक्षेप में निरूपित किया गया है । वेद और लोक दोनों में गद्य की छटा अवलोकनीय है प्राची के पुरोधा जिस गद्य शैली को अपनाए हैं, परवर्ती कविगण भी उसी से मिलती-जुलती शैली का आश्रय लेकर गद्य काव्यों का प्रणयन किये हैं । गद्यविधा में विचार प्रस्तुत करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है परन्तु पद्यविधा में नियमों से जकड़ा सा जान पड़ता है । इसीलिए गद्यविधा पद्यविधा की अपेक्षा श्रेष्ठ मानी जाती है ।

*****

द्वितीय अध्याय

महाकवि दण्डी का सामान्य परिचय

(क) समय :-

आचार्यदण्डी के समय के विषय में मतभेद है । कुछ विद्वानों के अनुसार वे छठीं शताब्दी में हुए, अन्य विद्वान् उनका समय 700 ई० के लगभग मानते हैं । पहले मत के समर्थन में कहा जाता है कि दण्डी ने अपने दशकुमारचरित में जिस देशकाल या समाज का चित्रण किया है, वह गुप्तकाल के अवसान के समय का है अतः उनका समय 550 ई० के आस-पास होना चाहिए । बाण की शैली का कोई प्रभाव दण्डी की रचना पर नहीं है अतः वे बाण के पूर्व हो चुके थे । दण्डी ने अवन्तिसुन्दरीकथा में अपना परिचय दिया है उसके अनुसार उनके पूर्वज कौशिकगोत्र में उत्पन्न हुए थे तथा आनन्दपुर (गुजरात) उनका मूल स्थान था । वहाँ से उनका कोई पूर्व पुरुष नासिक्य देश के अचलपुर में जा बसा । दण्डी के पितामह भारवि के मित्र दामोदर थे । भारवि की सहायता से उन्हें चालुक्य नरेश विष्णुवर्द्धन की सभा में प्रवेश मिला था । दण्डी के पिता का नाम मनोरथ तथा माता का नाम गौरी था । कहीं-कहीं पिता का नाम वीरदत्त बताया गया है । दण्डी का जन्म अनेक पुत्रियों के पश्चात् हुआ था । वे अपने पिता की सन्तानों में सबसे छोटे थे । सात वर्ष की अवस्था में उनका उपनयन हुआ तथा उन्होंने विद्यारम्भ किया । पर बाल्यकाल में ही उनके पिता की मृत्यु हो गयी । उसके साथ ही काँची पर शत्रुराजा ने आक्रमण कर दिया । अतः दण्डी को वहाँ से भागना पड़ा । बाण की भाँति ही

विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते हुए कुछ वर्ष पश्चात् वे पुनः काँची लौटे । उन्हें भारवि के मित्र दामोदर का प्रपौत्र कहा गया । इस आधार पर दण्डी का समय 700 ई0 के आस-पास सिद्ध होता है ।[1]

दण्डी का सम्बन्ध भारत के अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है । काव्यादर्श में संख्यात नामक प्रहेलिका के उदाहरण में उन्होंने काँची में पल्लवों से सम्बन्ध का संकेत दिया है । जिसे काँची के शासक नरहरि वर्मन् द्वितीय (680-722 ई0) से अभिन्न माना गया है । इस तरह इस कवि रूपी सूर्य का अभ्युदय भारत में कब हुआ यह तो अज्ञात है, परन्तु आचार्य दण्डी ने जिस समय, जिस देश, जिस भू-भाग को अलंकृत किया वह धन्य है । भारतीय चिंतनधारा में दण्डी का प्रवाह अविचल - अविच्छिन्न और अनुपमेय है । वह समय भी सौभाग्यशाली है, जब उन्होंने इस भू-भाग को अलंकृत किया । निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि वे 700 ई0 के आस-पास अवतरित हुए थे । क्योंकि उन्होंने जन्म का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया ।

---

1. सं0सा0 इति0 वाचस्पति गैरोला ।

(ख) व्यक्तित्व :-

गद्यविधा में निष्णात महाकवि दण्डी का विशिष्ट स्थान है । अपने गद्यबन्ध की अपूर्वता के कारण उन्हें कवि परम्परा में सर्वोच्च पद पर स्थापित किया गया है । कहा भी गया है:-

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत् ।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि ।।

अर्थात् संसार में वाल्मीकि के अवतरण होने पर ही कवि यह संज्ञा प्रचलन में आयी व्यास के होने पर कवी (दो कवि) यह प्रयोग सम्भव हुआ तथा दण्डी के होने पर कवयः (तीन या अनेक कवि) यह प्रयोग संभव हो सका ।

दण्डी के सम्बन्ध में कवि परम्परा में किंवदन्ती है कि एक बार कवियों में विवाद हुआ कि उनमें कौन श्रेष्ठ है । दण्डी ने अपना निर्णायक भगवती को बनाया । भगवती के मन्दिर में कवियों ने अपनी-अपनी रचना रख दी और मन्दिर के कपाट बन्द कर दिए गए । कुछ समय के पश्चात् मन्दिर से यह स्वर गूँजा - ''कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः'' - अर्थात् कवि तो केवल दण्डी है- इसमें कोई संदेह नहीं है । इसीलिए अर्वाचीन कविगणों की आचार्यदण्डी के पक्ष में प्रशस्ति है कि-

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।।

अर्थात् मान्य कविगणों में आचार्य दण्डी का भी एक सुप्रतिष्ठित स्थान था ।[1]

---

1. संoसाo इतिo बल्देव उपाध्याय-पृष्ठ 386 ।

(ग) कृतित्व :-

1. काव्य -

आचार्य दण्डी की प्रतिभाप्रसूत कितनी रचनाएँ हैं, यह कोई भी नहीं जानता, परन्तु पारम्परिक मान्यता के अनुसार दण्डी की तीन रचनाएँ साहित्य-संसार में प्रसिद्ध रही हैं -

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ।।

इन तीन रचनाओं में से दो रचनाएँ तो दशकुमारचरितम् गद्यकाव्य तथा काव्यशास्त्र का सुपरिचित ग्रंथ काव्यादर्श है । तीसरी रचना कौन-सी थी; इसके विषय में इस समय विद्वानों में अलग-अलग मत है । कुछ विद्वान् 'छन्दोविचितः' नामक छंदः शास्त्र के ग्रंथ को, कुछ काव्यादर्श में उल्लिखित कलापरिच्छेद नामक कलाविषयक ग्रंथ को तो कुछ मृच्छकटिक को दण्डी की रचना मानते हैं । 1924 ई० में अवन्तिसुन्दरीकथा नाम से एक गद्यकाव्य की हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई इसमें ग्रन्थकार का नामोल्लेख नहीं, पर अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर यह दण्डी की ही रचना मानी गयी है । इस प्रकार दण्डी की तीन रचनाएँ हैं :- दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरीकथा ये दो काव्य और काव्यादर्श ।

अवन्तिसुन्दरीकथा अलंकृत गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है । इसमें कथानक के पात्र दशकुमारचरित के

ही हैं । लक्ष्मीवर्णन में बाण के शुकनासोपदेश की छाया देखी जा सकती है । उदाहरणार्थ -

विदितमेव खलु वेदितव्यस्य यथेमाः प्रतिपदसुलभान्तराया दुर्योजनसाधन- समवायाश्च सम्पत्तयः । प्रार्थ्यमाना दुरवा, समाराध्यमाना, दुःखशीला, रक्ष्यमाणा प्रपलायिनी च लक्ष्मीः । प्रत्यक्षमेव चास्याश्चापलम् एषा खलु देवस्य पितृपैतामहसंवर्धितापि रिपुषड्वर्गसम्बाधमुक्तचित्तेन सुचिरलालितापि प्रवीरकरदण्डमण्डली-कृतप्रचण्डचापचक्रटङ्कारमुखरितेषु समरेषु शरीरं जीवितमनपेक्ष्य रक्षितापि यथेष्टलाभसंवर्धिता, तुष्टद्विजवराशीर्वादनन्दितापि नित्याराधनप्रसन्न कुलदेवताधिष्ठानापि नित्योद्युक्तविद्याधरसमाजाजस्र ग्राह्यमाणविनयापि चतुरुदधिवलयमध्यवर्तिसकलनरपति-कुलविरचिताञ्जलिकमलवनविहारमानितमनोरथापि, स्वभावदोषेण दुर्मतिरपरिचिता जीवत्येव तस्मिन्नरिजीवितलोहखड्गजिह्वे महाहिभोगभीषणे सङ्ग्रामे तस्यामिन्दुकर - दलितकुमुदकुड्मलोदर-दलावदातायाम् अपि चेयं पर्यङ्करथमयीव भुजङ्गभोगिनी मुहूर्तमप्यविश्रम्य परिभ्रमति । उपनतापि दैवादुरसि प्रमदमूर्च्छितेव हठान्निष्पतति ।

दशकुमारचरित -

ऐसा प्रतीत होता है कि संपूर्ण दशकुमारचरित दण्डी का लिखा हुआ नहीं है । वर्तमान में जिस रूप में यह ग्रंथ प्राप्त है उसमें तीन भाग है- पूर्व पीठिका-इसमें पाँच उच्छ्वास है । (2) मुख्य ग्रंथ या मध्य भाग- इसमें आठ उछ्वास है । (3) उत्तर पीठिका या उपसंहार । इसमें से मध्य भाग ही दण्डी का रचा हुआ माना जाता है ।

संभवतः दण्डी ने जिस रूप में दशकुमार चरित लिखा था, उसमें से आरम्भ और अन्त के अंश कालकवलित हो जाने से अनेक कवियों ने इनकी लोकप्रियता देख कर इसकी पूर्ति का प्रयास किया । भट्टनारायण, विनायक, चक्रपाणि तथा गोपीनाथ ये चार नाम इसमें परिवर्धन या पूर्ति करने वाले कवियों के प्राप्त होते हैं ।

दशकुमारचरित के नाम से स्पष्ट है कि इसमें दश राजकुमारों की कथाएँ हैं । इन कथाओं की पीठिका में बताया गया है कि मगध के राजा राजहंस ने मालवानरेश मानसार से पराजित होकर अपनी रानी वसुमती के साथ विन्ध्य के वनों में आश्रय लिया । वहाँ वसुमती ने राजवाहन को जन्म दिया । राजवाहन के नौ मित्र थे, उनमें से सात राजा राजहंस के विभिन्न मन्त्रियों के पुत्र थे । दसों कुमारों की शिक्षा-दीक्षा एक साथ हुई । फिर ये दसों युवा होने पर दिग्विजय के लिए निकल पड़े । अपने-अपने अभियान में एक-दूसरे से अलग-अलग हो गए । फिर अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हुए तथा विविध साहसिक कार्य सम्पादित कर एक-एक करके वे राजवाहन से मिलते गए और राजवाहन के कहने पर उन्होंने आप बीती उसे सुनायी । ये आपबीतियाँ राजकुमारों की आत्मकथाएँ ही दशकुमारचरित का मुख्य कलेवर हैं । पूर्वपीठिका के तृतीय और चतुर्थ उच्छ्वासों में सोमदत्त और पुष्पोद्भव का चरित है । पञ्चम उच्छ्वास में राजवाहन का मालवनरेश मानसार की पुत्री अवन्तिसुन्दरी से प्रणय तथा परिणय का वृतान्त है । अवन्तिसुन्दरी का भाई चण्डवर्मा राजवाहन को बंदी बना

लेता है और वह उसे चम्पा नगरी पर आक्रमण के साथ ले जाता है । मध्य भाग में पहले उच्छ्वास तक राजवाहन की यह कथा चलती है । चम्पा विजय का उत्सव चल रहा है उसमे है । उसमे राजवाहन का मित्र अपहारवर्मा आक्रमण करके चण्डवर्मा को मार डालता है और फिर चम्पा में ही बिछड़े हुए शेष मित्र एक-एक करके मिलते हैं । उत्तरपीठिका में ये सभी मिलकर राजवाहन के पिता राजहंस के पास जाते हैं । वे इन राजकुमारों को उनके द्वारा अपने अभियानों में जीते गये राज्यों का राजा बनाकर स्वयं वानप्रस्थ ले लेते हैं ।

दण्डी की इस रचना में लोककथाओं के अभिप्रायों का अनेकत्र रोचक रूप में प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ- नायक का स्त्री के वेश में रहकर नायिका से मिलना ब्रह्मराक्षस का प्रश्न पूछना, कापालिक के द्वारा नवयौवना कुमारी का बलि चढ़ाने के लिए अपहरण आदि पर दंडी ने लोककथाओं को काव्यात्मकता और कल्पना के साथ रमणीय विन्यास दिया है ।

दशकुमारचरित को कथा माना जाए या आख्यायिका? इसमें कथानक इससे कल्पित है; जबकि आख्यायिका में कथानक ऐतिहासिक होता है । कथा को उच्छ्वासों में विभक्त नहीं किया जाता, जबकि दशकुमारचरित उच्छ्वासों में विभक्त है तथा कथा में कवि स्वयं तटस्थ होकर प्रसंग का वर्णन करता है, नायक अपना चरित नहीं सुनाता, दशकुमारचरित में कई नायक अपना-अपना वृतान्त सुनाते

हैं । कथा में वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है, दशकुमारचरित में कहीं-कहीं आर्या छन्द प्रयुक्त है । वस्तुतः दशकुमारचरित पर कुछ लक्षण कथा के घटित होते हैं और कुछ आख्यायिका के कथानक की रोचकता की दृष्टि से दशकुमार-चरित अत्यन्त आकर्षक रचना है । परवर्ती महाकाव्यों अथवा बाण व सुबंधु के गद्य काव्यों की भांति लम्बे-लम्बे वर्णनों से कथा की गति इसमें बाधित नहीं हुई है । तथापि निसर्ग या प्रकृति के चित्रण तथा मानव सौन्दर्य के निरूपण के द्वारा दण्डी में अपनी रचना की रसमयता को समृद्ध बनाया । पूर्वपीठिका के प्रथम उच्छ्वास में रानी वसुमती का संक्षिप्त सौन्दर्य वर्णन प्रभावशाली रूप में हुआ है, इसी प्रकार पाँचवे उच्छ्वास का वसंतवर्णन उल्लेखनीय है । दण्डी की लेखनी यर्थाथपरक वर्णनों में विशेष दक्ष है । द्वितीय उच्छ्वास में राजकुमारी का सौन्दर्यवर्णन तथा षष्ठ उच्छ्वास में गोमिनी के रूप का चित्रण भी आकर्षक है । तृतीय उच्छ्वास में सूर्योदय का वर्णन प्रकृतिसौन्दर्य की निराली छटा उकेरता है । छठें उच्छ्वास में त्रिगर्त जनपद के अकाल का वर्णन अथवा आठवें उच्छ्वास में राजनीति का चित्रण इसके मार्मिक उदाहरण हैं ।

अद्भुत रस की सृष्टि और कौतुक की अभिवृद्धि में दण्डी अप्रतिम है । अकस्मिकता उनके निरूपण का विशेष गुण है । रचना का प्रारंभ ही राजहंस पर सहसा आयी घनघोर विपत्ति से होता है । फिर एक-एक करके उसके सहायक विछड़ते जाते है, और उसी तरह अप्रतयाशित रूप

से उसे खोए हुए कुमार मिलते भी जाते हैं । ये कुमार भी बड़े होकर अभियान पर चलते हैं तो बिछड़ते जाते हैं फिर सहसा इनको भेंट परस्पर होती है । उनके कथा जगत् में रमें हुए हम अनेक स्थलों पर साँस बांधे रह जाते है, कथा अचानक अप्रत्याशित रूप से सर्वथा भिन्न दिशा में मुड़ जाती है । आश्चर्य और भय के साथ-साथ असाधारण पराक्रम और साहस का चित्रण रोंगटे खड़े कर देने वाला है । श्रृंगार के साथ हास्य, उपहास या व्यंग्य का जो पुट दशकुमार चरित में मिलता है, वह अन्यत्र दुलर्भ है ।

कथानक के भीतर दूसरा कथानक तथा अवान्तर कथाओं के कहीं-कहीं समयोजन ने दशकुमार चरित की मूल कथा को और आकर्षक बना दिया है । अपहारवर्मा के वृत्तान्त में गणिका काममञ्जरी की कथा अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है । पर वह स्वतन्त्र कहानी का भी आनन्द देती है । इसी प्रकार मित्र गुप्त की कथा में धूमिनी, गोमिनी और निम्बवती की कहानियाँ स्वतंत्र रूप से प्रचलित लोककथाओं का आस्वाद देती है । दण्डी ने लोककथाओं के अनमोल खजाने का बड़ा रचनात्मक उपयोग करते हुए उसे कल्पना और काव्यात्मकता से उद्दीपन कर दिया है ।

दशकुमार चरित अत्यन्त निर्ममता के साथ दंडी के समय के यथार्थ का चित्रण प्रस्तुत करता है । मृच्छकटिक जैसी, इनी, गिनी रचनाओं को छोड़कर संस्कृत साहित्य में सामाजिक यथार्थ और भौतिक संसार का इस प्रकार हू बहू चित्र उकेरने वाला अन्य कोई प्रबन्ध नहीं है । यह

जुआरियों, धूर्तो, ठगों क्रूर और दुष्ट लोगों तपा अवैध प्रेम में लिप्त प्रेमियों के दुस्साहस और प्रवंचनाओं की क्रूर कथा है, कोई स्थानों पर तो करुणा और मानवीय मूल्यों के क्षरण की जैसे स्वयं प्रबंधकार भी उपेक्षा करता रहता है । पश्चिमी विद्वानों ने दशकुमार-चरित को, धूर्तो का रोमांश कहा है, जो उचित ही है, रचनाकार की व्यंग्यपरक दृष्टि सर्वत्र इस ग्रंथ में प्रतिफलित है । पहली कथा अपहार वर्मा के वृतान्त में ही अपहार वर्मा जुआरियों के बीच रहता है, चोरी करता है तथा चम्पा के कंजूस श्रेशिष्यों को घन चुरा-चुरा कर उन्हें संसार की नश्वरता का पाठ सिखाता है । इसी वृतान्त में गणिका काममञ्जरी की धूर्तता का प्रसंग चकित कर देने वाला है । दशकुमार चरित के नायक अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए छल, कपट और हत्या करने में नहीं हिचकते हैं । प्रमति नामक कुमार तो अपनी प्रेमिका से मिलने के लिए स्त्री का वेष धारण करके रनिवास में जा घुसता है । इसी कहानी में कुक्कटों (मुर्गों) की लड़ाई का रोचक वर्णन है (गृहस्थी का संसार ही दंडी ने छोटी-छोटी वस्तुओं का विवरण देते हुए मूर्त कर दिया है)। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी दशकुमार चरित अनूठी रचना है । इसके मुख्य पात्र भावनाओं में बहने वाले या पड़े-पड़े विलाप करने वाले धीरोदत्त नायक नहीं है, वे तो हर प्रकार के ऊंच-नीच काम करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाले तथा गहरे पारखी है । अपने पति विदेहराज विकटवर्मा को छोड़कर उपहार वर्मा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर पति के साथ विश्वासघात करने वाली कल्पसुन्दरी (तृतीय उच्छवास), दुःख

में सहायता करने वाले अपने सज्जन पति को त्याग कर लूले - लंगड़े व्यक्ति से प्रणय निवेदन करने वाली घूमिनी, धूर्त नागरिक, कलह-कंटक के चंगुल में आकर अपनाशील गंवाने वाली भोली - निम्बती -इन स्त्री -चरित्रों के प्रस्तुतीकरण में उन्होंने मनुष्य के मनोविज्ञान की बारीकियां और जटिलताएं गदराई से प्रकट की है ।

गद्य में पदलालित्य दण्डी की सबसे बड़ी विशेषता मानी गयी है । कुन्तक के द्वारा निरूपित सुकुमार मार्ग में सफल यात्री है । अनुप्रास तथा नादसौन्दर्य के निर्वाह में उन्होंने असाधारण कौशल का परिचय दिया है । सॉतवे उच्छ्वास में मन्त्रगुप्त प्रेयसी के अनियंत्रित समागम के कारण ओंठों के क्षत हो जाने से ओष्ठ्य वर्णो के प्रयोग के बिना अपना वृत्तान्त सुनाता है, वहॉं से सुंदर निरोष्ठ्य वर्णो का विन्यास चकित कर देने वाला है । **उदाहरणार्थः-**

तस्या नात्यासन्ने सल्लिराशि सदृशस्य कल हंसगणदलित नलिन दल संहति गलितकिञ्जल्फसंकुलशारस्य शारसश्रेणिशेखरस्य सरस्तीरकानिने-कृतनिकेतनाः स्थितः ।

दण्डी की रचना चूर्णक श्रेणी के गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है । लयात्मकता इसका प्राण है । पदविन्यास की विलक्षणता के द्वारा दण्डी वाक्यावली के आवर्त तरंगे और बीचियां बंनाते हुए कथाप्रवाह की मनोहारी गति से आगे बढ़ाते हैं । इसके लिए कहीं वे यमक का प्रयोग करते हैं तो कहीं अनुप्रास के विभिन्न प्रकारों का ।

उदाहरणार्थः- (1) 'घनदर्प - कन्दर्प - सौन्दर्य सोदर्यहृद्य निरवद्यरूपो भूपो भूव । (2) कुमारा माराभिरामा रामाद्यपौरुषा पुरुषा भस्मीकृतारयो रयोप हसित समीरणा रणाभियानेन यानेनाम्युदयाशंसं राजानमकार्षुः तेषु जीवत्सु न वर्बष बर्षाणि द्वादशदश शताक्षः । (3) निजनिलय निलीननिः शेषजने नितान्त शीते निशीथे' इत्यादि ।

दण्डी ने समाज के घिनौने पक्ष को बिना हिचक के साफ-साफ कह दिया है । धोखा-धड़ी तथा कामुक प्रवृत्तियों का जैसा लेखा-जोखा उन्होंने दिया है, वह क्षेमेन्द्र की रचनाओं को छोड़कर अन्यत्र कदाचित् ही मिले । पर दण्डी स्वयं अनैतिकता का समर्थन करते हैं;। ऐसी बात नहीं है । वस्तुतः दशकुमार- चरित अर्थ पुरुषार्थ का निरूपण करता है । काम और धर्म का भी प्रसंगतः उसमें निरूपण हुआ है । उसे हमें पौरुष और कर्मण्यता की प्रेरणापद कथा कह सकते हैं । दंडी का प्रतिज्ञावाक्य है अवज्ञासौन्दर्य दारिद्रयम् वे मनुष्यता को अपनी दरिद्रता दूर कर भौतिक दृष्टि से संपन्न बनाना चाहते हैं । अर्पोहिःनाम महात्मनामनुच्छिलसन्ततिर्यशः प्रवाहः अर्थमूला हि दंण्ड **विशिष्टकमरिम्माः**- आदि कथनों में जीवन में भौतिक आधार की अपेक्षा को उन्होंने रेखांकित करते हुए अपने नायिकों के चरित के द्वारा उसे बहुत प्रभावशाली रूप में सत्यापित भी करते है ।

(2) काव्य शास्त्रः-

महाकवि दण्डी का काव्यशास्त्रीय ग्रंथ काव्यादर्श है । काव्यादर्श समाज का चित्र माना जाता है । कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा समाज का सर्वांगीण चित्र अपने काव्यों में उपस्थित करते हैं । उसके नियमों का, स्वरूप का, दोष गुण का और उसमें आपेक्षित रीति आदि का विवेचन भी काव्य के करने तथा यर्थाथ रूप में समझने के लिए आवश्यक हो जाता है। इसी तरह की विवेचना के लिए प्रस्तुत ग्रंथों की गणना साहित्य शास्त्र के विभागों में की जाती है।

काव्यादर्श एक रीति सम्प्रदाय का साहित्यशास्त्र संबंधी ग्रंथ है। उपलब्ध होने वाले प्राचीन लक्षण ग्रंथों मे भामह के बाद दण्डी का काव्यादर्श ही मिलता है। काव्यादर्श में तीन परिच्छेद है ।

प्रथम परिच्छेद में काव्यपरिभाषा, काव्यभेद, महाकाव्यादि के लक्षण, गद्य के प्रभेद, कथा, आख्यायिका, मिश्रकाव्य, भाषाप्रभेद और वैदर्भमार्ग एवं अन्याय मार्ग तथा अनुप्रास गुण, काव्याकरण आदि विवेचन किया गया है । द्वितीय परिच्छेद में 35 अर्थालंकारों के भेदप्रभेद के साथ लक्षणोदाहरवादि निरूपित किए गए हैं ।

तृतीय परिच्छेद में यमकप्रपञ्च, गोमुत्रिकादि चित्रबन्ध, प्रहेलिका तथा दोषों का निरूपण [illegible] विस्तार के साथ किया गया है ।

काव्यादर्श ही एक ऐसा ग्रँथ है जिसमें पूर्ववर्ती सभी अलंकार-ग्रन्थों से अधिक अलंकारों के उपभेदों एवं रीति तथा गुणादि का विस्तृत विमर्श किया गया है ।

आचार्य दण्डी ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रँथ काव्यादर्श में काव्य की सुगठित परिभाषा देकर अन्य काव्य शास्त्रीय ग्रँथकारों के बीच अपना विशिष्ट स्थान बना लिया । उनके अनुसार काव्य का लक्षण निम्नलिखित है:-

पूर्वेशास्त्राणि संहत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च ।
यथा सामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम् ।।[1]

पूर्वाचार्य शिलालिभरतप्रभृति द्वारा निर्मित नाट्य सूत्रादि का संग्रह करके उनके द्वारा किए गए विवेचनों का संक्षेप रूप में संग्रह करके और व्यास वाल्मीकि कालिदास प्रभृति महाकवियों की कविता में उनके उदाहरणों को सुक्ष्म रूप से विचार करके मैं (दण्डी) अपनी बुद्धि के अनुसार काव्य लक्षण का निर्वचन करूंगा । इसमें अपनी बुद्धि के अनुसार कहने से नम्रता प्रकट की गयी है । पूर्वशास्त्राणि संहत्व कहकर आचार्य दण्डी ने स्वोक्त अर्थ का कपोलकल्पितत्व निरास करके उपादेयत्व सूचित किया गया । पूर्व शास्त्राणि संहत्व ,'प्रयोगानुपलक्ष्यच' इन दोनों विशेषणों से यह सिद्ध होता है । कि ग्रँथ में कहे गए पदार्थ केवल लक्षणानुमोदित ही नहीं, लक्ष्यानुसारी भी है । लक्षय शब्द का अर्थ 'अन्तरव्यवच्छेदक' होता है, वह वस्तु लक्षण है; जिसके कहे जाने पर, जिसका लक्षण किया जाय उसे अतिरिक्त पदार्थों

---

1. **काव्यादर्श प्रथम परिच्छेद । 2**

व्यच्छेद पृथक्करण हो जाय । जैसे घट का लक्षण किया 'कम्बुग्रीबादिमत्व' इस लक्षण के द्वारा पटादि पदार्थ का व्यच्छेद हो गया । लक्षण दो तरह के होते हैं:-

(1) स्वरूप लक्षण (2) तटस्थ लक्षण । जैसे - ब्रह्म का स्वरूप लक्षण - सच्चिदानन्द ब्रह्म का तटस्थ लक्षण- "जन्माद्यस्ययत:" है । प्रकृत में आचार्य ने काव्य का स्वरूप लक्षण ही किया है जो आगे कहा जाएगा । इस श्लोक से अनुबन्ध चतुष्टय भी प्रदर्शित हो जाता है । काव्यस्वरूप पाश्च विषय, जिज्ञासुजन अधिकारी, काव्यस्वरूपज्ञान, प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव ही समन्वय है ।

शरीरं तावदिष्टार्थवच्छिन्ना पदावली[1] ।।

काव्य का शरीर स्वरूप क्या है? काव्य किसे कहते हैं? इन प्रश्न का उत्तर इस कारिकार्ध में दिया गया है । इष्ट-सरस मनोइरतया वर्णन करने के लिए अभिप्रेत अर्थ से युक्त पदसमूह को काव्य का शरीर कहा जाता है । इष्ट अर्थ से युक्त पद समुदाय को काव्य कहते हैं । यहाँ पर इतना जानना आवश्यक है कि इष्टार्थ युक्त पद होना-भर ही काव्य शरीर कहलाने के लिए र्प्याप्त नहीं है; उन पदों का साकाङ्क्षत्व-योग्यत्वादि आपेक्षित है। अतएव 'कामिनीकमलं' आदि निराकाङ्क्ष पदसमुदाय को काव्य नहीं किया जा सकता है । यह साकाङ्क्षत्वनिवेश कोई निष्प्रमाणक बात नहीं है । इष्यार्थब्यवच्छित्रत्वान्यन्यथानुपपत्या सिद्ध ही है ।

---

1 . काव्यादर्श प्रथम परिच्छेद। 10

इष्टार्थत्व से यहाँ पर चमत्कारयुक्तत्व अभिमत है । चमत्कार का अभिप्राय लोकोत्तर आनन्द से है और आह्लादगत लोकोक्तत्व कवि प्रतिभा स्थापित लौकिक सामग्री से सम्पादित सुखत्वव्याव्य अनुभव साक्षिक जाति विशेष स्वरूप है, अतएव "'पुत्रस्ते जातः' 'धनं ते दास्यामि' इत्यादि लौकिक वाक्यार्थ बुद्धिजन्य लौकिक आह्लाद से इस वाक्य समूह को काव्यत्व प्राप्ति का अधिकार नहीं मिलता है । उस अलौकिक आह्लाद के प्रति शब्द तथा अर्थ की कारणता तीन प्रकारों से संभव है :- 1. मुख्य व्यंग्यविशेष द्वारा । 2. अमुख्य चमत्कार द्वारा । 3. दोषसंपृक्त गुणालंकार समुद्रावित चमत्कार द्वारा । अतः काव्य के तीन भेद शुद्ध होते हैं । जहां पर वाच्यार्थ सौन्दर्यपेक्ष्या व्यंग्यार्थ सौन्दर्य प्रधानता प्रकाशित होता हो तो वहाँ पर ध्वनि काव्य का व्यवहार होता है, इसमें मुख्य व्यंग्य विशेष द्वारा आह्लाद है ; जहाँ पर व्यंग्यार्थ सौन्दर्य वाच्यार्थ सौन्दर्यापेक्षया गुणीभूत हो जाय, वाच्यार्थ सौन्दर्य कुक्षिप्रविष्ट सा हो जाय उसे गुणीभूत व्यंग्यकाव्य नाम से जाना जाता है। गुणी भूत ... तथा व्याच्यार्थ मात्र कृत आह्लाद हो उसे चित्र काव्य कहा जाता है। कुछ आचार्यों ने चित्र काव्य के दो भेद माने हैं । अर्थ-चित्र एवं शब्द चित्र । अर्थचित्र का स्वरूप तो यही माना है जो हम यहाँ कह आए हैं, शब्द चित्र का स्वरूप उन्होंने यह कहा कि यदि अर्थ की विशेष चिन्ता न करके शब्द को कलात्मक रूप उपस्थित करने का प्रयास किया जाय, जैसा कि नवाभ्यासी कवि लोग किया कहा करते हैं तो वह चित्र शब्द-चित्र है ।

इस प्रकार इष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावली को काव्य शरीर मानने वाले दण्डी के मत में रमणीयार्थयुक्त वाक्य ही काव्य होता है । वाक्य उस पदसमुदाय को कहते हैं जो योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त हो । अतः इनका लक्षण शब्दकाव्यवादी सिद्ध होता है ।

काव्य शब्द का अर्थ क्या है ? शब्दार्थयुगल अथवा केवल रमणीयार्थयुक्त शब्द ? इस विषय में पक्षभेद चला आता है- कुछ आचार्य शब्दार्थयुगल को काव्य मानने के पक्ष में है और कुछ लोग रमणीयार्थशब्द को काव्य मानते हैं । काव्यशास्त्र के अन्तर्गत आचार्य दण्डी के द्वितीय परिच्छेद में प्रथमतः अलंकार की परिभाषा दी गयी है । इसके बाद में भेद-प्रभेद करते हुए अलंकारों का निरूपण किया गया है । आचार्य दण्डी के अनुसार कविता के अलंकार वे हुआ करते हैं, जो कविता के वाचक और वाच्य शब्द और अर्थरूप अंगों की सौन्दर्य की वृद्धि क्रिया करते हैं; और उसी प्रकार किया करते हैं, जैसे हार आदि आभूषण किसी सुन्दरी के कण्ठ आदि अंगों की । किन्तु अलंकारों से वाक्यार्थरूप अंगों की सौन्दर्यवृद्धि तभी संभव है, जबकि कविता का व्यक्तित्व कविता का रस रूप आत्मतत्व सुन्दर हो क्योंकि आभूषणों से कभी कण्ठ आदि अंगों की श्री वृद्धि तभी हुआ करती है जब कि उन्हें धारण करने वाले स्त्री सुन्दरी हो, अन्यथा तो जैसे किसी कुरूप स्त्री के हार आदि आभूषण देखने वालों के लिए दृष्टिवैचित्र्य से लगने लगते हैं वैसे ही नीरस कविता के अनुप्रास आदि अलंकार पढ़ने वालों के लिए वैचित्र्यमात्र प्रतीत होते हैं -

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ।।[1]

आचार्य दण्डी ने चौथी कारिका से सातवीं कारिका तक अलंकारों के नामनिरूपित करते हैं । यह सबसे बड़ी सरलता है; क्योंकि अन्य आचार्यो ने यथासमय ही अलंकारों की परिभाषा के साथ उनको नाम निर्दिष्ट किये हैं; परन्तु आचार्य दण्डी ने पहले अलंकारों के नाम बता दिये हैं यथा- स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति दीपक, आक्षेप, अर्थान्तर-न्यास व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा हेतु, शूक्ष्म, लेश, यथसंख्य, प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि पर्यायोक्त, समाधि, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेष, तुल्य योगिता, विरोध, अन्यप्रस्तुतप्रशंसा, ब्याजस्तुति, निदर्शना, सदोक्ति परिवृत्ति, आशीः संसृष्टि, भाविक । यही पैंतीस अलंकार प्राचीन आचार्यो ने माने हैं, ये अलंकार यद्यपि अर्थगत हैं तथापि इन्हें वाणीका- शब्द का अलंकार इस लिए कहा जाता है कि शब्द और अर्थ मे अभेद माना जाता है । शब्दार्थतादात्म वैयाकरणों का सिद्धांत है-

स्वभावख्यानमुपमा रूपकं दीपिका कृती ।
आमेदो ऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना ।।
समासातिशयोत्प्रेक्षा हेतुः सूक्ष्मो लवः क्रमः ।
प्रेयो रसवदूर्जिस्व पर्यायोक्तं समाहितम ।।
उदातापह्नुतिश्लेष - विशेषास्तुल्ययोगिता ।
विरोधा प्रस्तुत स्तोते ब्याजस्तुतिनिदर्शने ।।

---

1 . कार्यादर्श द्वितीय परिच्छेद -1

सहोक्तिः परिवृत्याशीः संकीर्णमथ भाविकम् ।
इति वाचामलंकारा दर्शिताः पूर्वसूरिभिः ।। [1]

इस तरह आचार्य दण्डी ने द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया है । अलंकार के बिना काव्य रूपी शरीर शोभायमान नहीं होता । इसीलिए आज जगत् में अलंकारों को विशेष महत्व दिया गया है । तृतीय परिच्छेद में आचार्य दण्डी ने, यमक, प्रपंच गोमूत्रकादि चित्र काव्यादि प्रहेलिका तथा दोषों का निरूपण विस्तार के साथ किया है । दिग्दर्शन मात्र के लिए तृतीय परिच्छेद की द्वितीय कारिता को प्रस्तुत किया जा रहा है -

एक हि चतुव्यादयमकानां विकल्पनाः ।
आदिमध्यांतमध्यान्तमध्याद्याद्यन्त सर्वतः ।। [2]

एक, दो, तीन, चार, पदों में रहने वाले बहुत भेद हो जाते हैं; जैसे प्रथम पाद में, द्वितीय पाद में, तृतीय पाद में चतुर्थ पाद में, यमक। इस प्रकार एक पादयमक चार प्रकार के हुए । प्रथम और द्वितीय पादों में, प्रथम और तृतीय पादों में, प्रथम और चतुर्थ पादों में, पदों में यमक, इस प्रकार से द्विपादयमक के छः प्रभेद हुए । त्रिपादयमक के प्रथम द्वितीय तृतीयपादगत, प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-पादगत, प्रथम-तृतीय-चतुर्थ पादगत, द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पादगत, इस प्रकार चार भेद है : चतुष्पादपमक एक ही प्रकार का है । इस तरह पादयमक के 15 भेद हुए । ऊपर बताए गए

1 . काव्यादर्श द्वितीय परिच्छेद-4, 7
2 . काव्यादर्श तृतीय परिच्छेद-2

15 भेदों के आदि यमक, मध्ययमक, अन्तयमक, आदिमध्ययमक, आद्यान्तयमक, मध्यान्तयमक, आदिमध्यान्तयमक नामक सात प्रकार के होते हैं । इनके योग से 105 प्रभेद हुए इन सबके अव्यपेत यमक, व्यपेतयमक, व्यपेताव्यपेतमयक नाम से तीन प्रभेद हुए, इस प्रकार कुल मिलाकर 315 भेद होते हैं ।

इस प्रकार आचार्य दण्डी का उक्ति पण्डित राज जगन्नाथ के मत से भी सिद्धहस्त प्रकटित होता है । पण्डित राज जगन्नाथ ने "निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं" काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित कह कर जिस अभिमान को व्यंजित किया है दण्डी ने भी मूकभाव से आचरण - द्वारा उसी अभिमान को व्यंन्जित किया है । मुझे तो ऐसा लगता है कि कुछ अंशों में पण्डित राज जगन्नाथ के दण्डी पथ प्रदर्शक थे । जहाँ तक अनुमान है- पंडित राज ने काव्य लक्षण निर्वचन में भी इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली को ही परिष्कृत करके 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः' शब्द का रूप प्रदान किया है । इसी प्रकार दण्डी द्वारा अवलंबित स्वोक्तोदाहरण प्रदर्शन पद्धति से प्रभावित होकर ही पण्डित राज ने 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपम्' कहा है ।

******

अध्याय -3

आलोच्य ग्रन्थ में वस्तु विश्लेषण

(क) कथावस्तु -

महाकवि दण्डी द्वारा विरचित दशकुमारचरितम् को पूर्व पीठिका, उत्तर पीठिका और अष्ट उच्छ्वासात्मक दशकुमार चरित के नाम से विभक्त किया गया है । प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्वपीठिका पंच उच्छ्वासात्मक है । इसमे पुष्पपुरी (पटना) के वर्णन से लेकर राजवाहन के चरित्र वर्णन के प्रारंभ तक का वर्णन किया गया है । वस्तु विन्यास की दृष्टि से पृथक् - पृथक् उच्छ्वासों का कथानक संक्षेपतः प्रस्तुत करना समीचीन प्रतीत होता है । अतः क्रमशः कथावस्तु प्रस्तुत की जा रही है ।

प्रथम उच्छ्वास के प्रारंभ में मंगलाचरण के बाद पुष्पपुरी का वर्णन कवि के द्वारा किया जाता है । इसी के साथ में राजा राजहंस के वैभव का वर्णन किया गया है ।

संसार की सम्पूर्ण नगरियों को जाँचने की कसौटी में सर्वश्रेष्ठ निरन्तर असंख्य दुकानों में फैलाकर रखे हुए मणियों आदि के द्वारा रत्नाकर (समुद्र) के रत्नों के माहात्म्य को प्रकाशित करने वाली और मगधदेश की शिरोमुकुट (राजधानी) पुष्पपुरी नाम की नगरी थी ।

उसमें राजहंस नामक एक राजा रहते थे । उनके विशाल भुजदण्ड, योद्धाओं के समूहरूप उत्ताल तरंगों वाले घोड़े और

हाथीरूप मगरों से भयंकर समस्त शत्रुमण्डल के शैन्यरूप समुद्र को मथने के लिए मन्दराचल पर्वत की भांति थे । उनकी कीर्ति से दिशाएँ व्याप्त थी; जो (कीर्ति) अमरावती के उद्यान (नंदन वन) में विहार करने वाली युवती गणिकाओं द्वारा बारम्बार गायी गयी थी तथा अधिक परिमाणों वाली थी एवं शरत्कालीन चन्द्रमा, कुन्द (माघी) पुष्प, कपूर, हिम, मोतीमाला मृणाल (कमल की नाल) हंस, ऐरावती हाथी, जल, दुग्ध, शिव का अट्टहास, कैलाश पर्वत, कांश आदि श्वेत वस्तुओं की भांति धवल मूर्ति वाली थी; और दसों दिशाओं के मध्यभाग को पूर्ण करने वाली थी वे (राजहंस) देवताओं के मुकुट के मनोहर और बहुमूल्य मणियों वाले समुद्र की बेला (तटभूमि) रूप करधनी से घिरी पृथ्वी रूप कामिनी के सौन्दर्य व ऐश्वर्य का उपभोग करते हुए निन्तर किए जाने वाले यशों की दक्षिणा द्वारा आचारवान् और विशेष शास्त्रज्ञान से तेजस्वी ब्राह्मणों की रक्षा करने में तत्पर रहा करते थे। साथ ही जो अपने प्रखर प्रताप से, शत्रुदल के सन्तप्त करने के कारण मध्यान्ह कालिक सूर्य के समान (प्रताप से सूर्य सदृश) थे और सौन्दर्य में महाभिमानी कामदेव के सदृश मनोहर स्वरूप वाले थे ।

अस्ति समस्तनगरीनिकषायमाणा शश्वद्गण्य-पण्यविस्तारितमणिगणादि वस्तु-जातव्याख्यात रत्नाकर माहात्म्या, मगधदेश-शेखरी भूता, पुष्पपुरी नाम नगरी । तत्र वीरभटपटलोत्तरङ्गतुरङ्गकुञ्जरमकरभीषणसकलरिपुगणकटकजलनिधिमथनमन्दरायमाणसमुद्दण्डभुजदण्डमण्डलः, पुरन्दरपुराङ्गणवनविहरणपराय गीर्वाण तरुणगणिका-गणजेगी-यमानयाऽतिमानया शरदिन्दुकुन्दघनसारनीहारहारमृणालमरालसुरगज- -नीरक्षीरगिरिशाट्टहासकलासकाशनीकाशमूर्त्या रचितदिगन्तरालपूर्त्या कीर्त्याऽभितः

सुरभितः स्वर्लोकशिखरोरुरुचिररत्नरत्नाकरवेलामेखलायितधरणीरमणीसौभाग्यभोगा भाग्यवान् अनवरतयागदक्षिणारक्षितशिष्टविशिष्टविद्यासम्भारभासुरभूसुरनिकरः- विरचितारातिसंतापेन प्रतापेनसततततुलितवियन्मध्यहंस राजहंसो नाम घनदर्पकन्दर्पसौन्दर्य सोदर्य हृद्यनिरवद्यरूपो भूपो बभूव ।[1]

राजा राजहंस की पत्नी का नाम वसुमती था । जो लोकोत्तर सुंदरी थी । पत्नी के साथ उन्होंने बहुत दिनों तक सुखपूर्वक पृथ्वी का उपभोग किया । उस राजा राजहंस के परम विनीत, अपनी धीर-गम्भीर बुद्धि से सुरगुरु बृहस्पति के विचारयुक्त कार्यों को भी तिरस्कृत करने वाले धर्मपाल, पद्मोद्भव और सितवर्मा नामक वंशपरम्परा से प्राप्त तीन मन्त्री हुए । उन तीनों मन्त्रियों में से सितवर्मा के सुमति और सत्यवर्मा, धर्मपाल के सुमन्त्र, सुमित्र और कामपाल तथा पद्मोद्भव के सुश्रुत और रत्नोद्भव नामक पुत्र हुए । उन मन्त्रिपुत्रों में से धर्मपरायण सत्यवर्मा संसार की सारहीनता को जानकर तीर्थयात्रा की इच्छा से देशान्तर (अन्य देश) में चला गया ।

धूर्तों नटों और वेश्याओं में रत रहने वाला उद्दण्ड कामपाल पिता और अपने बड़े भाइयों के निर्देशों की अवहेलना कर, पृथ्वी पर इधर-उधर घूमने लगा । व्यापार में चतुर होने के कारण रत्नोद्भव भी (व्यापार के लिए) समुद्र पारकर अन्य द्वीपों की ओर चला गया ।

---

1. दशकुमार चरितम् पूर्वपीठिका प्रथम उच्छ्वास

अन्य (सुमति, सुमन्त्र, सुमित्र और सुश्रुत) मन्त्रिपुत्र अपने-अपने पिता के स्वर्गवासी होने के उपरान्त पूर्ववत् अपने-अपने पिता के पदों पर आसीन होकर मन्त्रिकार्य करने लगे ।

तस्य राज्ञः परमविधेया धर्मपालपद्मोद्भवसितवर्मनामधेया धीरधिषणावधीरितविबुधाचार्यविचार्यकार्यसाहित्याः कुलामात्यास्त्रयोऽभूवन् । तेषां सितवर्मणः सुमतिसत्यवर्माणौ धर्मपालस्य सुमन्त्रसुमित्रकामपालाः, पद्मोद्भवस्य सुश्रुतरत्नोद्भवाविति तनयाः समभूवन् ।

तेषु धर्मशीलः सत्यवर्मा संसारासारतां बुद्ध्वा तीर्थयात्राभिलाषी देशान्तरमगमत् । विटनटवारनारीपरायणो दुर्विनीतः कामपालो जनकाग्रजन्मनोः शासनमतिक्रम्य भुवं बभ्राम। रत्नोद्भवोऽपि वाणिज्यनिपुणतया पारावारतरणमकरोत्। इतरेमन्त्रिसूनवः पुरन्दरपुरातिथिषु पितृषु यथापूर्वमन्वतिष्ठन् ।[1]

कालान्तर में एक ऐसा समय आता है; जब राजा राजहंस और मालवेश्वर के बीच घमासान युद्ध होता है। उस युद्ध में सेनाएँ इधर-उधर भटक जाती हैं । मन्त्रियों के इधर-उधर हो जाने से ये मन्त्री पुत्र भी इधर-उधर छूट जाते हैं । एक ऐसा समय आता है जब अलग-अलग स्थानों से ये सभी मत्री पुत्र राजा राजहंस के पास किसी न किसी माध्यम से पहुँच जाते हैं । इस तरह दशों कुमार एकत्रित हो गए, उनके साथ बालक्रीड़ा करता हुआ राजवाहन अनेक वाहनों पर चढ़ने की कला में निपुण हो गया और क्रमशः उसके सभी संस्कार सम्पन्न किए गए। इस प्रकार

---

1. दश कुमार चरितम पूर्वपीठिका प्रथम उच्छ्वास

के सर्वगुणसंपन्न युवावस्था से सुशोभित एवं कर्तव्यकार्यों में आलस्यरहित कुमारों को देखकर राजा राजहंस खिल उठे और उन्होंने सोचा कि अब मैं शत्रुओं से अजेय हो गया । इस तरह उन्हे परम आनन्द होने लगा । पुत्र की कार्यशैली से संतुष्ट राजा राजहंस परम आनन्द को प्राप्त करते हैं ।

द्वितीय उच्छ्वास :-

अनन्तर एक ऐसा दिन आता है; जब राजा राजहंस का पुण्य उदित होता है और उनके घर वामदेव जी पधार जाते हैं; क्योंकि एक सिद्धांत है कि ''सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति'' अर्थात् सज्जनों का सज्जनों के साथ संपर्क कभी पुण्य से ही होता है । राजा के द्वारा प्रणाम किए जाने पर उन्हें आशीष प्रदान करते हुए ऋषि वामदेव जी ने कहा हे राजन्! प्रशंसित मित्रों वाला आपका पुत्र (राजवाहन) आपके मनोऽनुकूल फल के समान समृद्ध होकर सौन्दर्य में परिपूर्ण युवावस्था का अनुभव कर रहा है । अतः उसके लिए निश्चय ही यह समय अपने मित्रों के साथ दिग्विजय यात्रा के अनुकूल है । इसलिए समस्त कष्टों को सहन करने में समर्थ राजवाहन को दिग्विजय हेतु भेजने का प्रबन्ध करें ।

'भूवल्लभ! भवदीयमनोरथफलमिव समृद्धलावण्यं तारुण्यं नुतमित्रो भवत्पुत्रो- ऽनुभवति । सहचरसमेतस्य नूनमेतस्य दिग्विजयारम्भसमय

एषः । तदस्य सकलक्लेशसहस्य राजवाहनस्य दिग्विजयप्रयाणं क्रियताम्' इति ।[1]

राजकुमार राजवाहन शुभमुहूर्त में दिग्विजय यात्रा प्रारंभ कर देते हैं । एक समय आया कि जब राजकुमार राजवाहन विन्ध्याटवी में प्रवेश कर गये और वहाँ उन्होंने एक भक्तपुरुष को देखा राजवाहन को प्राप्त कर उस पुरुष ने बड़ा सत्कार किया । इसके बाद राजवाहन के पूंछे जाने पर कि तुम कौन हो, कहाँ से आए हो । इत्यादि का उत्तर देते हुए उस पुरुष ने अपना सारा वृतान्त बताया । वृतान्त को सुनकर राजवाहन विश्वस्त हो जाते हैं और उसकी प्रार्थना स्वीकार कर मध्यरात्रि में सोते हुए मित्रों को छोड़कर, नतमस्तक मातङ्ग के साथ दूसरे वन में चले । प्रातः काल होने पर मित्र की अनुपलब्धि के कारण उसका अन्वेषण करने के लिए पुनर्मिलन का संकेत स्थल निश्चित करके वे कुमार अन्यदेशों में चल पड़े । इधर मातङ्ग के साथ राजवाहन भी पाताललोक पहुँच गए, वहाँ पर असुरराज की पुत्री कालिन्दी से उनकी मुलाकात हुई । कालिन्दी राज-कुमार की प्रतीक्षा में चातकी की तरह रहने लगी । राजवाहन की आज्ञा से मातङ्ग ने उस युवती से विवाह कर रसातल के राज्य को स्वीकार कर लिया और प्रसन्नचित्त से वहीं पर रहने लगा ।

मित्रों से मिलने की उत्कंठा जागृत होने पर राजवाहन रसातल से बाहर आते हैं । और उन्हें ढूढ़ने के लिए इधर-उधर घूमने लगे । इतने में ही सहसा पालकी पर स्त्री सहित चढ़ा और

---

1. दश कुमार चरितम् द्वितीय उच्छ्वास

मन्त्रियों से घिरा एक पुरुष आ रहा था । जिसे देखकर राजवाहन विस्मय में पड़ जाता है । तभी सोमदत्त पालकी से बाहर आकर अपना सारा वृत्तान्त राजवाहन से बताता है ।[1]

तृतीय उच्छ्वासः-

सोमदत्त अपने ऊपर बीती घटना को राजकुमार राजवाहन से बताते हुए कहता है कि राजन! एक दिन जंगल में घूमते हुए प्यास से व्याकुल होकर, एक जलाशय के किनारे जल पीते हुए वहीं पर एक देदीप्यमान रत्न को मैंने देखा । उसे लेकर मैं जैसे ही आगे बढ़ा एक देवालय में विश्राम करने की इच्छा से ठहर गया । वहां पर एक गरीब ब्राह्मण को मैंने देखा । उसकी गरीबी को देखकर वह रत्न मैंने उसे ही दे दिया । रत्न प्राप्त कर, वह ब्राह्मण आगे की ओर बढ़ गया और सोमदत्त उसी देवालय मे विश्राम करने लगा । कुछ ही क्षणों के बाद सैनिकों के द्वारा उस ब्राह्मण को पकड़ लिया गया और उसे बांध कर उसी देवालय में ले आए जहां सोमदत्त सो रहा था । उस ब्राह्मण ने कहा कि यही चोर है इतना सुनते ही सैनिकों ने ब्राह्मण को छोड़कर सोमदत्त को कारागार में डाल दिया । कारागार में अन्य चोरों के साथ वार्तालाप करते हुए इस रत्न प्राप्ति का वृतान्त उजागर हो जाता है । इसके बाद सोमदत्त के वृतान्त को सुनकर उसके पराक्रम का अभिनन्दन करते हुए राजवाहन ने अपना भी वृतान्त कह सुनाया। इसी समय पुष्पोद्भव नामक मित्र भी उपस्थित हो जाता है । उन दोनों

---

1. दश कुमार चरितम द्वितीय उच्छ्वास

सोमदत्त तथा पुष्पोद्भव ने भी बहुत दिनों के वियोगजन्य दुःख का परित्याग कर परस्पर आलिङ्गन रूप सुख का अनुभव लिया । तत्पश्चात् उसी वृक्ष की छाया में बैठकर राजवाहन ने आदर से हंसते हुए कहा-मित्र! ब्राह्मण का कार्य करने की इच्छा से मेरे मित्रगण जान जायेगें तो निश्चित ही विघ्न उपस्थित करेगें । ऐसा सोचकर आप लोगों को निद्रा में निमग्न छोड़कर ही चला गया था । मेरे जाने के पश्चात् जागने पर मित्रगण क्या निश्चय कर मेरी खोज मे कहाँ-कहाँ गए ? और आप अकेले कहाँ गए? (इस प्रकार राजवाहन द्वारा जिज्ञासा प्रकट करने पर) पुष्पोद्भव ने भी हाथ जोड़कर मस्तक को स्पर्श करते हुए विनय पूर्वक बताना प्रारंभ किया-

तौ च चिरविरहदुःखं विसृज्यान्योन्यालिङ्गनसुखमन्वभूताम् । ततस्तस्यैव महीरुहस्य छायायामुपविश्य राजा सादरहासमभाषत-''वयस्य भुसूरकार्यं करिष्णुरहं मित्रगणोविदितार्थः सर्वथान्तरायं करिष्यतीति निद्रितान्भवतः परित्यज्य निरगाम् । तदनु प्रबुद्धो वयस्यवर्गः किमिति निश्चित्य मदन्वेषणाय कुत्र गतवान् । भवानेकाकी कुत्र गतः इति । सोऽपि ललाटतटचुम्बदञ्जलिपुटः सविनयमलपत्।[1]

चतुर्थ उच्छ्वासः-

राजवाहन से पुष्पोद्भव ने कहा कि हे राजन् ! आपको ढूँढ़ने के लिए पृथ्वी पर घूमते हुए एक दिन दोपहर में किसी सघन छाया के नीचे मै थोड़ी देर के लिए बैठ गया । उसी समय

---

1. ददश कुमार चरितम् तृतीय उच्छवास

आकाश से गिरते हुए एक पुरुष को मैंने देखा, और उसे मैंने बीच में ही पकडकर धीरे से धरती पर रख लिया । जल सिंचन आदि क्रियाओं के बाद जब उन्हें चेतना आई तब उनसे उनका वृतान्त मैने पूँछा । तब उसने समुद्र में नौका डूब जाना, उससे बचकर तपस्वी के आश्रम में जाना, और सोलह वर्ष बाद अपनी पत्नी से मिलन होना. आदि वृतान्त बताते हुए अपना नाम रत्नोद्भव बताया । जब समय व्यतीत हो चुका और पत्नी से मिलन नहीं हुआ, तो ग्लानि के मारे मै पर्वत से कूद पड़ा । इसी समय वहीं पर एक स्त्री का करुणक्रन्दन सुनाई दिया । जब पुष्पोद्भव उसके समीप जाता है, तो एक तापस वृद्ध ने उसका नाम सुवृत्ता बताया । और समुद्र में नौका डूबने की घटना तथा सोलह वर्ष बाद पति व पुत्र से पुनर्मिलन होगा, यह भी उसने बताया । पुष्पोद्भव यह जानकर कि ये हमारे माता-पिता हैं, तो उन दोनों को परस्पर मिला दिया । और स्वयमपि उन्हीं के समीप बैठ जाता है ।

पञ्चम उच्छ्वास :-

राजा राजवाहन ने बसंतऋतु के समीप आ जाने पर विहार करने की इच्छा से अवन्तिकापुरी में प्रवेश किया, वहां पर ऋतुराज बसंत के समय में ही मानसार की पुत्री अवंतिसुन्दरी अपनी प्रिय सखी बालचंद्रिका के साथ नगर के समीप किसी उपवन में पहुंचकर कामदेव की पूजा करके क्रीड़ा करने लगी । उसी उपवन में राजवाहन पुष्पोद्भव के साथ अवंतिसुन्दरी के समीप धीरे-धीरे पहुंच गए, तदन्तर अन्योन्याश्रित दर्शन से कामजनित वेदना दोनों को

सताने लगीं । दोनों एक दूसरे को देखकर स्रष्टा की अनुपम सृष्टि के विषय में चिन्तन करने लगते हैं । अवन्तिसुन्दरी के मन में यह प्रश्न उठता है कि इनका परिचय कैसे जाना जाय, इन मनोभाव को जानकर बालचंद्रिका ने परोक्ष रूप से कहा कि समस्त विद्याओं में निपुण ये एक ब्राह्मण मात्र होने के कारण हे राजकुमार आपके पूजा योग्य है। अतः आप उनका सत्कार करें ।

भर्तृदारिके ! अयं सकल- कला- प्रवीणो देवतासानिध्यकरणआह्व निपुणोभूसुरकुमारौ, मणिमंत्रौषधिज्ञः परिचर्याहो भवत्यापूज्यताम् इति ।[1]

राजकुमार राजवाहन अवन्ति- सुन्दरी के असाधारण प्रेम को देखकर सोचने लगे कि अवश्य ही यह पूर्व जन्म की मेरी पत्नी यज्ञवती है । अन्यथा इसके प्रति मेरा प्रेम इतना प्रगाढ़ न होता, क्योंकि शाप के अंत में ऋषियों ने कहा था, कि दोनों को पूर्व जन्म का वृन्तान्त स्मरण रहेगा । इसके बाद एक दूसरे का विशिष्ट परिचय प्राप्त करते हुए पूर्व जन्म की बातों को स्मरण करने लगे और यह सिद्ध हों गया कि ये दोनों पूर्व जन्म में पति-पत्नी के रूप में थे । जब से एक दूसरे का दर्शन हुआ तब से एक-दूसरे को प्राप्त करने की बलवती इच्छा जागृत हुई, यहां तक कि विरह वेदना के कारण पानादि लेना भी बंद कर दिया यह दशा देखकर शुभचिन्तकों के द्वारा औषधियाँ प्रदान की गयी । परन्तु मूल औषधि के अनुपस्थित रहने पर रोग से निवृत्ति कहां ? रोग से निवृत्ति हेतु सखियों के माध्यम से आवन्ति सुन्दरी एक

---

1. दशकुमारचरितम् पंचम उच्छ्वास

पत्र प्रेषित करती है जिसमें लिखा था - हे सुभग ! पुष्प के सदृश कोमल तथा संसार में अनिन्द्य आप का रूप देखकर मेरा मन रीझ गया हैं अतः आप अपने मन को भी अपने रूपके समान ही कोमल बनाएँ -

सुभग कुसुमसुकुमारं जगदनवद्यं विलोक्यते रूपम् ।
मम मानसमभिलषति त्वं चित्तं कुरु तथा मृदुलम् ।।

इधर राजवाहन की स्थिति कामवेदना से दयनीय है । वह मित्र पुष्पोद्भव से वार्तालाप कर ही रहा था कि सहसा एक ब्राह्मण ने वहाँ पहुँचकर राजकुमार राजवाहन के मनोभिलषित कार्य की सिद्धि कराया । जिससे दोनों पक्ष प्रसन्नता पूर्वक जीवन यावन करने में समर्थ हो सके ।

दशकुमार-चरितं में प्रथम पांच उच्छ्वास समाप्त होने के बाद पुनः प्रथम उच्छ्वास से ही कथानक प्रारंभ होता है अतः अब अगले उच्छवासों का कथानक प्रस्तुत किया जा रहा है ।

प्रथम उच्छ्वास :-

राजाराजवाहन और अवन्तिसुन्दरी को शाप मिला था कि प्रथम मिलन के बाद दो माह का पुनः वियोग होगा । उसके बाद जब पुनर्मिलन होगा, वह बहुदिन-हिताय होगा । तदनुसार सहसा एक दिन दैवीय आपत्ति आ पड़ती है और राजा राजवाहन को अवंतिसुन्दरी से पृथक होना पड़ता है। पृथक होते हुए उसने कहा - हे माले दो मास सही, इसके बाद पुनः मिलन होगा । इतना

कह कर वह राजवाहन शत्रु के आधीन हो जाता है । कालक्रमानुसार उस आपत्ति से जब विमुक्त होता है तब पुनः अवन्तिसुंदरी से मुलाकात हो जाती है । वे दोनों साथ-साथ जीवन व्यतीत करने लगते है । इसके बाद उपहार-वर्मा, अर्थ पाल, प्रमति, मित्रगुप्त, मन्त्रगुप्त, विश्रुत, प्रहार-वर्मा, कामपाल और सिन्धु वर्मा के साथ समीप आकर धनमित्र में बैठे हुए राजवाहन को प्रणाम किया जिसे देखकर सहर्ष राजा उठकर कहने लगे; इस समस्त मित्र मंडली का आज भी कितना बड़ा सौभाग्य है । इतना कहकर सभी से प्रेम पूर्वक मिले और पुनः सोमदत्त तथा पुष्पोद्भव के वृन्तात को मित्रों से कहकर अपहार वर्मा से अपनी बीती सुनाने के लिए प्रेरित किया ।

ततः प्रवृत्तासु प्रीतिसंकथासु प्रियवयस्पयगणानुयुक्तः स्वस्य च सोमदत्त पुष्पोद्भवयोश्चरितमनुवर्ण्य सुहृदामपि वृन्तान्तं क्रमेण श्रोतुं कृतप्रस्तावस्तांश्च तदुतावन्वयुङ्क्त । तेषु प्रथमं प्राह स्म किलापहारवर्मा ।[1]

द्वितीय उच्छवास :-

अपहारवर्मा ने राजवाहन से कहा कि आपका पता लगाने के लिए एक दिन मैं मरीचि नामक महर्षि के पास पहुँचा । वहां पहुंचने पर पता चला कि वे महर्षि किसी के उपकारार्थ कही बाहर गए हुए हैं । वह परोपकार किसी और का नहीं एक वेश्या का

1. दशकुमारचरितम् प्रथम उच्छ्वास

था । वे उसे समझाते हुए कहते है कि - हे कल्याणी यह बन मे रहना दुःख का जनक है । उसका फल मोक्ष या स्वर्ग है । उनमें से पहला (मोक्ष) उत्कृष्ट ज्ञान से संभव है और सामान्यतः प्राप्त करना असंभव है । और दूसरा (स्वर्ग) उन सभी व्यक्तियों को सुलभ है जो अपने वंश-धर्म का अनुदान करने वाले हैं, अतः असंभव प्रयत्न करने वाले (इस) काम से विरत होकर मां के कहे में रहों । इस प्रकार समझाकर उसे अपनी माता के पास रहने का आदेश दिया ।

अध्यात्म चर्चाओं में अनुरक्त जानकर ऋषि ने कहा कि किस प्रकार तुम यह मानती हो कि धर्म, अर्थ तथा काम से ऊपर है। यह सुनकर वह बोली - यर्थार्थ के विचार से धर्म की वृद्धि होती है और वह किसी प्रकार भी अपनाए जा रहे अर्थ व काम से बाधित नही होता परंतु धर्म परम कल्याण देने में समर्थ होता है। उदाहरणार्थ पितामह (ब्रह्म) का तिलोत्तमा (नामक अप्सरा) पर इच्छा, पार्वतीपति (शंकर) का हजारों मुनि-पत्निओं का धर्म विगाड़ना, कृष्ण का सोलह हजार स्त्रियों के साथ विहार करना, प्रजापति (ब्राह्म) का अपनी कन्या । (संध्या-सरस्वती) के प्रति भी प्रेम होना, शचीपति इन्द्र का अहल्या (गौतम की पत्नी) का प्रेमी होना, चंद्रमा का गुरु (अपने गुरु वृहस्पति) की पत्नी (तारा) से गमन, अंशुमाली (सूर्य) का घोड़ी (अश्विनी) पर टूटना, वायु का केसरी पत्नी (अंजना) से समागम, वृहस्पति का (अपने बड़े भाई) उतथ्य की पत्नी से संगम, पराशर का धीवर की बेटी (योजन गंधा) को बर्बाद करना, पराशर पुत्र (व्यास) का भाई (विचित्रवीर्य) की स्त्रियों का

उपभोग करना, अत्रि का हिरणी से रमण । ज्ञान की प्रबलता के कारण देवताओं के भिन्न-भिन्न कार्यों में अकर्म का आचरण (भी) धर्म बाधा पैदा नही करता । धर्म से पवित्र हुए मन में रज (रजोगुण) उसी तरह कदापि लिप्त नही होती, जिस तरह आकाश में रज (धूल) कभी लिप्त नही होती । इस लिए अर्थ और काम धर्म के सौवें अंश को भी नहीं सकते।

इस प्रकार उस वेश्या और महर्षि के बीच बार्तालाप होता रहा । कई कथानकों का सँमिश्रण करके इस उच्छ्वास में धर्म की प्रधानता बतलाई गयी है । इसी उच्छ्वास में चोरी का प्रकरण बहुत ही मनोरञ्जक दृष्टि से निरूपित किया गया है । रागमञ्जरी, श्रृगालिका और अम्बालिका आदि का वर्णन बडे ही विचित्र ढंग से किया गया है । इसी प्रकार अपहार वर्मा पुनः वेश्या संपर्क के कहर से उद्धार पाकर दूसरी बार किए गये तप के प्रभाव से पुनः दिव्य दृष्टि प्राप्त मरीच से मिला । तदनन्तर हे राजन! आपका दर्शन हुआ इसी प्रकार अपहार वर्मा की बात सुनकर उपहार वर्मा को अपनी बीती सुनाने के लिए राजा ने प्रेरित किया ।

तृतीय उच्छ्वासः-

उपहार वर्मा ने राजवाहन से कहा कि हे राजन् ! एक बार मैं घूमते हुए विदेह राज्य में पहुंचा वहां पर एक बूढ़ी तपस्विनी का दर्शन हुआ उस तपस्वनी के पूछने पर पता चला कि कि वह प्रहारवर्मा की पत्नी है । उस तापस वृद्धा ने बताया कि आपत्ति काल आ जाने पर मैं अपने पुत्रों को छोंड़कर

प्राणरक्षा हेतु अन्यत्र चली गयी । आज उन पुत्रों के अभाव में विलख रहीं हूं । यह सुनकर उपहारवर्मा ने कहा कि तुम मेरी हो ओर प्रहार वर्मा मेरे पिता है । यह सुनकर उस वृद्धा ने रोते हुए छाती से लगाया और बार-बार सिर सूंघने लगी । नाना प्रकार के आशीर्वाद देकर उपहार वर्मा के भोजनादि की समुचित व्यवस्था की । इसी उच्छ्वास में अन्य कथाएँ भी वर्णित हैं । उपहार वर्मा की कहानी सुनकर अर्थपाल से अपनी कहानी कहने का आदेश राज वाहन ने दिया ।[1]

चतुथ उच्छ्वासः-

अर्थपाल ने राजवाहन से कहा कि हे राजन् ! एक दिन मै टहलता हुआ वाराणसी पहुँचा वहाँ पर एक हट्टे-कट्टे पुरुष को देखा जो पूर्णभद्र नाम धारी था । और चोरी से अपनी जीविका चलाने वाला था । एक दिन एक श्रेष्ठ वैश्य के घर चोरी कर चुराए गए माल के साथ पकड़ा और बाँधा गया । कामपाल नामक मंत्री के द्वारा आदेशित किया गया कि इसे कठोर दण्ड दिया जाए । हाथी के द्वारा मुझे कुचलवाने का असफल प्रयास उन लोगों ने किया । इसी उच्छ्वास में कुसुमपुर के राजा रिपुञ्जय मंत्री धर्मपालक काशी नरेश चन्द सिंह एवं उनकी कन्या कान्ति मती आदि का वर्णन किया गया है ।

सबसे रोमांचक बात इस उच्छवास में यह है कि तीन जन्मों की कथा एक साथ बतायी गयी है । जिनमें पहले जन्म में पति

---

1. दश कुमार चरितम् तृतीय उच्छवास

के रूप में सौनक दूसरे जन्म में शूद्रक और तीसरे जन्म में कामपाल नामक हुए । पत्नियां क्रमशः पहले जन्म में बंधुमती, वेजिमती, हंसावली, नंदिनी और गोपकन्या हुई । दूसरे जन्म में विनयवती, आर्य दासी, सूर्यसेना, रंगपताका और आर्यदासी हुई । तीसरे जन्म में कांतिमती, सोमदेवी, सुलोचना इन्द्र सेना और तारावली हुई । इस प्रकार प्रस्तुत उच्छ्वास में अर्थपाल कामपाल को पूर्णभद्र के द्वारा संकट से विमुक्ति दिलाने की कथा वर्णित है । इसके बाद प्रमति से अपनी रामकहानी कहनें के लिए राजा ने आज्ञा दी ।

पंञ्चम उच्छ्वास :-

प्रमति ने राजवाहन से कहा कि हे राजन ! एक दिन मै घूमते हुए विन्धाचल के समीप पहुँचा । वहाँ पहुचकर किसी स्थान विशेष में रात्रि कालीन विश्राम लिया । वहां कुछ आश्चर्य जनक घटनाएं घटी । जो इस प्रकार है -

जैसे ऐरावत की मस्ती के समान रत्नमयी मञ्जरी देखना, स्त्री समूह का देखना, अपसरा समूह का देखना, इस प्रकार की घटनाएं मुझे आश्चर्य में डाल देती है । जब प्रातःकाल हुआ मेरे मन में आया कि क्या यह सच है? अथवा धोखा है, क्या कोई आसुरी अथवा दैवीय माया है? इस तरह सोचकर मैंने उसे जानने की इच्छा प्रकट की। इसी समय गन्दे वस्त्रों से युक्त एक सुन्दरी नारी प्रकट हुई । जिसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ । परन्तु परिचय प्राप्त कर मै उचित स्थान पर आया । तदनन्तर मैंने श्रावस्ती नगरी की ओर

प्रस्थान कर दिया । जहां पर मुर्गों की लड़ाई का दंगल चल रहा था । वहीं किसी बगीचे में कुछ समय के लिए विश्राम की अवस्था में ही मुझे एक युवती के नूपुर की आवाज सुनाई दी । परिचय प्राप्त होने पर पता चला है कि वह धर्मवर्धन की पुत्री नवमालिका है । इस प्रकार नवमालिका के प्राप्त हो जने पर मैंने उसका उसी उपभोग किया जिस प्रकार भवरा ताजे फूलों वाली चमेली का उपभोग करता है । अनन्तर इस चम्पा नगरी में पहुँचकर सौभाग्य से महाराज आपका दर्शन भोगकर रहा हूँ । यह कथानक सुन कर राजवाहन बहुत प्रसन्न होता है । इसके अनन्तर वह मित्रगुप्त को अपनी कथा कहने के लिए प्रेरित करता है ।

श्रुत्वैतत्प्रमतिचरितं स्मितमुकुलितमुखनलिनः विलास-प्रायमूर्जितम् मृडुप्रायंचेष्टितम्, इष्टएषंमार्गः प्रज्ञावताम् । अथेदानीमत्रभवान्प्रविशतु' इति मित्रगुप्तमैक्षत क्षितीशपुत्रः ।[1]

षष्ठ उच्छ्वासः-

मित्रगुप्त राजवादन से कहता है कि हे राजन् ! भ्रमण करते हुए एक दिन मै दामलिप्त नामक नगर में पहुँचा जहाँ वीणा वादन करते किसी नवयुवक को देखा और पूँछा कि हे सौम्य ! यह उत्सव किसलिए हो रहा है, तब उसने बताया कि दुर्गा देवी की कृपा से राजा तुङ्गधन्वा को सन्तान की प्राप्ति हुई है इसी कारण आज देवी को कन्दुक नृत्य से प्रसन्न किया जा रहा है । इसी

---

1. दशकुमार चरितम् पंञ्चम उच्छवास । 65

उत्सव में धाय की लड़की चन्द्रसेना को आना था परन्तु राजकुमार भीम धन्वा के द्वारा जबरदस्ती रोक लिए जाने के कारण वह यहां तक नहीं आ पायी; उसी से उत्पन्न दुख को वीणा के माध्यम से कुछ कम करता हुआ बैठा हूँ । परन्तु उसी समय अचानक वह उसे प्राप्त हो जाती है । वह युवक अर्थदास का पुत्र कोशादास था । कुछ समय व्यतीत होने पर यवनों के बीच युद्ध प्रारम्भ हो जाता है । इस युद्ध में यवन पराजित हो जाते है। उसी युद्ध में भीम धन्वा भी उपस्थित रहता है ; जो मुझे देखकर लज्जित हो जाता है ! इसी अन्तराल में एक ब्रह्मराक्षस प्राप्त होता है । जिससे मैं अपना पूरा परिचय बताता हूं वह ब्रह्मराक्षस मुझसे प्रश्न करता है । उन प्रश्नों का उत्तर देना मुझे अनिवार्य था अन्यथा वह मुझे खा जाता । इस प्रकार हम दोनों के मध्य आर्याछन्द में बातचीत होती है । निर्दय क्या होता है? स्त्री का दिल । गृहस्थ के प्रति और कल्याण की वस्तु क्या है? स्त्री के गुण । इच्छा कौन श्रेष्ठ है? निश्चय । दुःसाध्य कार्य को सिद्ध करने का उपाय क्या है? बुद्धि ।

किं क्रूरं स्त्रीहृदयं किं गृहिणः प्रियहिताय दारगुणाः ।

कः कामः संकल्पः किं दुष्करसाधनं प्रज्ञा ।।

इस तरह बातचीत होने के बाद मेरे द्वारा, धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती और नितम्बवती का आख्यान बताया गया । उसके बाद सिंध वर्मा की सहायता के लिए यहां आए स्वामी आपके दर्शन उत्सव का सुख भोग रहा हूँ । उसके पराक्रम को सुनकर

राजवाहन प्रसन्न हो उठा । तदनतरमत्रगुप्त को अपनी कथा सुनाने को कहा ।

सप्तम उच्छवासः-

मत्र गुप्त राजा राजवाहन से कहता है कि हे राजन्! आप को खोजते हुए मै कलिँग नामक देश में पहुँचा वहाँ पर किसी स्त्री का करुण क्रन्दन सुनायी दिया । जिसके साथ में एक दास भी था वह दास उस स्त्री से पूछता है, कि अब मुझे क्या करना है? आप आदेश दीजिए । उसने आज्ञा दी जाओं कलिँग के राजा कर्दन की कन्या कनकलेखा को ले आओ । कनकलेखा रुदन करती हुई जैसी ही मेरी दृष्टिपथ पर पड़ती है वैसी ही वह उसे मारने के लिए तैयार हो जाता है । मैंने उसका सिर काटकर किसी पुराने वृक्ष के तने के खोखले भाग में डाल दिया । वह देखकर राक्षस अत्यन्त प्रसन्न हुआ । आदेश की प्रतीक्षा में वह राक्षस खड़ा रहा; तब मंत्र गुप्त के द्वारा उसे आदेश मिलता है कि इन्हें इनके घर पहुँचा दो । यही मेरी प्रसन्नता की बात होगी । इस प्रकार उसके आदेश का उसने पालन किया । सप्तम उच्छ्वास में जय सिंह आदि राजाओं का कथानक भी वर्णित है । इस प्रकार उसके पराक्रम को जानकर राजवाहन अति प्रसन्न हुए और विश्रुत को अपनी कथा सुनाने के लिए आदेशित किए ।

अष्टम् उच्छवासः-

विश्रुत राजवाहन से अपनी कथा सुनाते हुए कहता है कि हे राजन्! घूमते हुए मैं विन्ध्याचल के पास पहुँचा, जहाँ पर क्लेश

सहते हुए आठ वर्ष का एक बालक कुएँ के पास दिखा; जो सहायता की याचना कर रहा था । क्योंकि उसके पिता कुएँ में गिर पड़े थे मैंने उन्हें कुएँ से बाहर निकाला और परिचय पूछा । हमारे प्रश्नों का यथोचित उत्तर उस वृद्ध ने दिया । इस उच्छ्वास में बसतभानु, भानुवर्मा अनन्त-वर्मा आदि का वृतान्त भी वर्णित है । जिसके माध्यम से समाज को एक नयी दृष्टि मिलती है । यहाँ पर धन को प्रधानता दी जाती है । कहा गया है कि-राजनीति व श्रेष्ठ कार्यों के आरंभों के मूल में धन ही है । उस विषय में दुर्बलता से बढकर परमपापी दूसरी वस्तु नहीं है । इस तरह अष्टम उच्छ्वास सम्पन्नता को प्राप्त होता है । इसके पश्चात् दशकुमार- चरित के सार तत्त्व के रूप में उत्तर पीठिका का समारंभ किया जाता है ।

दशकुमार चरित की उत्तर पीठिका उपसंहार के रूप में लिखी गयी है । समस्त दुर्जेय स्थानों को जीतकर उपहारवर्मा, अपहारवर्मा, अर्थपाल, प्रमति, मित्रगुप्त, विश्रुत आदि कुमार पाटलिपुत्र में सोमदत एवं राजवाहन के साथ मिलकर रहने लगे । कुछ समय पश्चात् राजवाहन के पिता का आज्ञापत्र आता है ; जिसे राजवाहन शिरोधार्य करते हुए सभी मित्रों को सुनाता है । उस पत्र में मुख्य रूप से लिखा था कि हे ! पुत्र तुम्हारे माता -पिता शोक सागर में डूब रहे है । अतः शीघ्रातिशीघ्र पुष्पपुर पहुंचकर माता पिता को दर्शन दो । यह आज्ञा पत्र प्राप्त कर राजवाहन अपने मित्रों के साथ माता-पिता के दर्शनार्थ पुष्पपुर पहुँचता है ।

(ख) यथार्थवस्तुः-

किसी भी काव्य की कथावस्तु कविकल्पना प्रसूत होती है अर्थात् कुछ कथावस्तु ऐतिहासिक तथा कुछ स्वनिर्मित हुआ करती है । दशकुमार चरितम् में विशिष्टशैली को अपनाते हुए यथार्थ वस्तु की निरूपण किया गया है । वस्तु की यथार्थता पदे-पदे दृष्टि गोचर होती है । प्रारम्भ में ही जब राजाराजहंस अैर मानसार के बीच युद्ध प्रारम्भ होता है, वहाँ पर यथार्थ वस्तु का वर्णन है। राजा के लिए प्रजा व राज्य से बढ़कर कोई भी वस्तु नही होती है । तद्नुसार प्रजा के रक्षणार्थ एवं राज्य के अभिवृद्ध्यर्थ युद्ध किया जाता है । प्रथमतः मानसार को पराजय का मुख देखना पड़ता है । इसके पश्चात् वह एक ऐसे दानी से याचना करता है जो सबको देने में समर्थ हों और वे हैं आदिनारायण भगवान भूतभावन शंकर ।

दृढ़ तपस्या करने के पश्चात् भगवान शंकर प्रसन्न होते है और मानसार को एक गदा प्रदान करते है । जो सभी को नष्ट करने मे समर्थ होता है। यहां पर कवि के द्वारा यथार्थता का निरूपण किया गया है "क्योंकि उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः" यह नीति हैं । इसी नीति को आधार मानकर राजामानसार ने कठोर तप किया । जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें राज्यसुख प्राप्त हुआ ।

आचार्य दण्डी के दशकुमारचरित के यथार्थवादी दृष्टिकोण का पूर्व पीठिका के आदर्शवादी दृष्टिकोण से भी स्पष्ट भेद दिखाई

माता-पिता के दर्शन के बाद राजा राजहंस व रानी वसुमती को भी परम आह्लाद होता है । और स्वंय राजवाहन भी आह्लादित होता है । राजा राजहंस वानप्रस्थ आश्रम में जाना चाहते हैं, परन्तु राजवाहन जाने का निषेध करता है । ऋषि की आज्ञा प्राप्तकर राजवाहन अपना हठ छोड देता है । इसके बाद राजावाहन को पुष्पपुर में बैठा कर, उसकी आज्ञा से सभी सेवक अपने-अपने राज्यों का पालन करके, अपनी इच्छा से माता-पिता के पास जाने-आने लगे । वे सभी कुमार राजवाहन की आज्ञा से इन्द्रादि तक के लिए दुर्लभ पृथ्वी मण्डल का राज्य सुखपूर्वक भोगते हुए प्रसन्न मन से जीवन व्यतीत करने लगे ।

राजवाहनं पुष्पपुरेऽवस्थाप्य तदनुज्ञया सर्वेऽपि परिजनाः स्वानि स्वानि राज्यानि प्रतिपाल्य स्वेच्छया पित्रोः समीपे गतागतमकुर्वन् । एवमवस्थितास्ते राजवाहनप्रमुखाः सर्वेऽपि कुमारराजवाहनाज्ञया सर्वमपि वसुधा वलयं न्यायेन परिपालयन्तः परस्परमैकमत्येन वर्तमानाः पुरंदरप्रभृतिभिरत्त्यतिदुलभानि राज्य सुखान्यन्वभूवन् ।[1]

---

1. दशकुमार चरितम् उत्तर पीठिका

पड़ता है । दण्डी ने देवताओ और तपस्वियों की भी दुबर्लताओं को व्यक्त किया है । पर पूर्वपीठिका में पूर्ण पवित्रता की अभिव्यञ्जना की गयी है तथा मातँग ब्राह्मण की कहानी भी उसे राजवाहन के सहायक के रूप में चित्रित की गयी है जो शिव की कृपा से पाताल का स्वामी बनता है । पूर्वपीठिका में कुमारों की वीरता या पुरुषार्थ पर इतना जोर नहीं दिया गया है जितना दैव पर । मानव राजा राजहंस शिव से प्राप्त शक्ति के कारण विजय प्राप्त करता है। दण्डी स्वयं मार्कण्डेय के उस शाप की हंसी उड़ाता हैं जिसके कारण अप्सरा सुरतम – ञ्जरी की मुक्तामाला के ऊपर गिरने से ऋषि रुष्ट होकर उसे राजयक्ष्मा बनने का शाप दे देते हैं । पूर्वपीठिका में जल पक्षी के शाप से शाम्ब दो मास तक पत्नी से वियुक्त रहता है । पूर्वपीठिका के कुमार दैव के आधीन पात्र है तथा ऋषि वामदेव और उनके शिष्य, राजहंस तथा अन्य कुमारों की रक्षा करते हैं इसी तरह राजवाहन की विजय भी मातँग नामक ब्राह्मण के कारण होती है । इस पूरी कृति में कुमारों के विचित्र अनुभवों का मनोहर चित्रण प्रस्तुत किया गया है ।

(ग) मौलिक उद्भावनाः-

दशकुमारचरित में मुख्य कथा के अन्तर्गत कई अवान्तर कथाएँ पायी जाती हैं । उपहारवर्मा की कथा में एक और तपस्वी मरीचि तथा गणिका काममञ्जरी की कहानी है तो दूसरी ओर जैन भिक्षु की आत्मकथा पाई जाती है । इसी तरह मित्रगुप्त की कथा में धूमिनी, गोमिनी निम्बवती और नितम्बवती की कहानियाँ गूँथ दी गयी हैं । इनके अतिरिक्त अन्य चरितकथाओं में भी अन्य प्रासंगिक कथाएँ चित्रित की गयी हैं । दशकुमारचरितम् की कहानियों के तथ्यवादी वातावरण को देखकर कुछ विद्वानों ने तो यहां तक कल्पना की है कि इस कृति का लक्ष्य पञ्चतन्त्र आदि की कहानियों की तरह कथा के ब्याज से नीतिशास्त्र की शिक्षा देना है । पर यह मत अत्युक्तिपूर्ण होगा तथा दण्डी की कृति का लक्ष्य कोरी नीतिशास्त्र की शिक्षा को मानना स्वयं दण्डी के प्रति अन्याय होगा। कीथ के मत से दण्डी का एकमात्र लक्ष्य सहृदयों का अनुरञ्जन जान पड़ता है; भले ही उसने नीतिशास्त्र, राजनीति तथा कामशास्त्र का प्रकाण्ड अध्ययन इस कृति में प्रदर्शित किया हो । दण्डी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सामान्य लोक कथाओं को लेकर काव्य की आभा से उद्दीप्ति करते हैं और यह काव्य शैली सुबन्धु और बाण तक में नहीं पाई जाती । सुबन्धु तथा बाण का खास ध्यान परिश्रमसाध्य रीति (शैली) की ओर अधिक है पर दण्डी का ध्यान केवल अभिव्यञ्जना पक्ष की ओर नहीं है; वे कथा के विषय में कम महत्त्व नहीं देते । सुबन्धु ने एक छोटी सी कहानी लेकर कला का आत्मवाहन खड़ा कर दिया है; पर दण्डी के पास

विषय की कमी नहीं है और उनकी अभिव्यञ्जना शैली इतनी विशिष्ट हुई है कि वह विषय को साथ लेकर आगे बढ़ती है । सुबन्धु और बाण दोनों की कृतियों का रीतिपक्ष बडी तेजी से बहुत सज-धज कर आगे बढ़ता है और विषय पीछे घिसटता रहता है दोनों कदम से कदम मिलाकर चलते नहीं दिखाई देते । दण्डी के दशकुमार चरितम् के कथा या विषय की यह दयनीय परिणति नहीं देखी जाती । सुबन्धु या बाण की तरह दण्डी किन्नरों का गन्धर्वों के अप्सरा लोक में उड़ने वाले जादू के घोड़ों को आकाश से उप्तर कर पृथ्वी को चकाचौंध में डालती दैवी-शक्तियों के आदर्श लोक में नहीं घूमते, न वे महाश्वेता जैसी आदर्श नायिका या जाबालि जैसे त्रिकालदर्शी दिव्य महर्षि तक ही रहते हैं । वे एक जमीन पर चलते फिरते हैं और वहां रहने वाले अच्छे-बुरे, शिष्ट-अशिष्ट , पण्डित मूर्ख, सब तरह के पात्रों से परिचय प्राप्त करते हैं और उन्हें उसके सच्चे रूप में लाकर खड़ा कर देते हैं । वे काम के वशीभूत होते तपस्वी मरीचि, भोले तपस्वी को धोखा देने वाली काम – मञ्जरी पति को कुंए में ढकेल कर विहताङ्ग व्यक्ति के प्रति आकृष्ट होने वाली धूमिनी जैसी कुलटा पत्नी, पवित्रता को धोखा धड़ी से प्रतिष्ठा से च्युत कर उसका उपभोग करने वाले धूर्त कलह-कंटक को ही यथार्थतः खुले रूप में नहीं रखते, अपितु चण्डवर्मा का वध करते अपहार वर्मा, यक्ष को भगाने वाले तथा हत्या करने से नहीं डरने वाले मन्त्रगुप्त, समय पर चोरी, जुआरीपन सब कुछ करने वाले चरित बाधकों के स्पष्ट रूप को रखने में भी नहीं हिचकिचाते । दण्डी की इसी यर्थाथ वादिता के कारण कुछ विद्वान दशकुमारचरितम् को अश्लील घोषित करते हैं

पर भूलना न होगा कि दण्डी के सुभाषित, अश्लील नहीं माने जाते तो दण्डी अश्लील क्यों हैं? और देखा जाय तो जयदेव फिर भी अश्लील हैं । पर दण्डी का वर्णन भले ही अश्लील हो उसका प्रतिपाद्य अश्लील नहीं है । संस्कृत साहित्य को यथार्थवादी शैली जो हमें दशकुमारचरितम् में अधूरा सा मिलती है वह दण्डी-सातवी शती के भारतीय समाज का चित्रण रखने में पूर्णतः समर्थ है । ठीक वैसे ही जैसे बालजाऊ मोपासा या जोल्वा के फ्रेंच उपन्यास या कहानियाँ उन्नीसवीं सदी के फ्रांस का यथार्थवादी चित्रण उपस्थित करने में समर्थ है । दण्डी की लेखनी बड़ी निर्ममता के साथ समाज के दोषों को अनावृत करती है और दृष्टि से यदि दशकुमारचरितम् का लक्ष्य किसी हद तक नीति का उपदेश मान लिया जाय तो अनुचित नहीं पर उसे हर्बेल वाली सीमा तक बढ़ाना अत्युक्ति होगा और कीथ की तरह इसका लक्ष्य कोरा सहृदयानुरञ्जन भी घोषित करना ठीक नहीं जान पड़ता हैं ।

दण्डी के दशकुमार- चरित में महदायुध, महदाशा आवोचि-शासन अंदशि जैसे रूप असावधानी के सूचक है पर सम्भव है ये हस्त लेखों के कारण हो फिर भी "आलिंगवितुं ब्राह्मणब्रुवः", 'एनमनुरक्ता' जैसे प्रयोगों को दण्डी ने स्वयं काव्यादर्श में ठीक नहीं माना है । दण्डी की शैली सरल, स्वाभाविक एवं स्फीत है फिर भी कई स्थानों पर दण्डी ने भाषा को कलात्मक कृत्रिमता से जकड़ दिया है । सप्तम उछवास में दण्डी ने शाब्दी क्रीड़ा का प्रयोग किया है जहाँ मित्र-गुप्त की कथा में ओष्ठ वर्णों को नहीं आने दिया है । किन्तु दण्डी इस कलाभंगियों में कम दिलचस्पी

लेते हैं । और सम्भव है दण्डी की नैसर्गिक गद्य शैली ने ही उन्हें बाण या सुबन्धु की तरह पुराने पण्डितों के हाथों पूरा सम्मान न दिलाया । दण्डी ने आत्मचरित रूप कहानियों में कहीं भी 'परोक्षभूतेलिट्' का प्रयोग नहीं किया है और इसका प्रयोग बीच-बीच में आने वाली उपकथाओं में हुआ है पर कुमारों की उक्ति में दण्डी ने लंङ्. तथा लुट् का उपयोग किया है । दण्डी को लुङ् के प्रयोग करने का विशेष शौक है जो उसके व्याकरण विषयक ठोस ज्ञान का प्रमाण है ।

(घ) प्रमुख पात्र :-

दण्डी के अपने मूल दशकुमारचरित में राजवाहन तथा उसके सात साथियों की कहानियाँ हैं। प्रथम उच्छवास में राजवाहन की कथा हैं तथा उसके साथी उसके पास आते हैं। अपने साथियों को बड़े दिनों बाद पाकर वह उनसे अपने अनुभवों की कथा कहने का आदेश देता है। बाकी सात उच्छवासों में सात कुमारों की कहानियाँ हैं। सबसे पहली कहानी उपहारवर्मा का चरित है; जो सबसे लम्बा तथा सबसे जटिल एवं मनोरञ्जक है । इस कहानी में हमारे सम्मुख अनेक विचित्र घटनाएँ और कई तरह के रोचक पात्र उपस्थित होते हैं । काममञ्जरी नामक गणिका निःसंदेह एक विचित्र पात्र है । वह तपस्वी मरीच के आश्रम में जाकर सन्यास लेने का ढोंग रचती है और तपस्वी को अपने कर्तव्य मार्ग से च्युत कर देती है । इसके पहले वह वस्तुपाल नामक श्रेष्ठि पुत्र को भी ठग चुकी थी और बेचारा वस्तुपाल जैन साधु बनाने को बाध्य किया जाता है । जैन साधु के प्रसंग में ही जैन धर्म की खिल्ली भी उड़ाई गयी है । द्यूतगृह का अनुभव, चौर कर्म का वर्णन, जिसमें अपहारवर्मा ने दक्षता प्राप्त की है । चम्पा के कृपण श्रेष्ठियों का धन चुरा-चुराकर उन्हें संसार की सम्पत्ति की नश्वरता का पाठ पढ़ाना आदि वर्णनों के द्वारा इस कथा में हास्यखम व्यंग्य की अपूर्व विनियोजना की गयी है । अपहारवर्मा गरीबों की सहायता के लिए धनवानों की चोरी करता है प्रेमियों को परस्पर मिलाता है व नीचता दुष्टता व धोखा धड़ी के शिकार बने लोगें को फिर से सुखी बना देता है । उपहारवर्मा से अगली वाली कहानी इतनी

रोचक नहीं है पर उसमें भी घटनाओं और चरितों का अभाव नहीं है ।

इस कहानी में नायक के पिता के खोए हुए राज्य को प्राप्त करने की कथा है। नायक चालाकी से राजा का वध कर देता है रानी का विश्वासपात्र बनता है और मंत्रसिद्धि से रूप परिवर्तन कर बहाना कर राजा बन जाता है। चौथी कहानी कुमार आर्यपाल की है । जो काशी के राजा के द्वारा पदच्युत पिता को पुनः मंत्री बना देता है और राजकुमारी मणि कर्णिका के प्रेम को प्राप्त करता है । इस कथा में सर्पविष को हटाने की योजना का प्रयोग किया गया है जहाँ नायक राजकुमारी के सर्पविष को उतार देता है । अगली कहानी प्रमति की हैं । जिसमें स्वप्न में नायिका दर्शन वाली कथानक–रुढ़ि का प्रयोग पाया जाता है । नायक श्रावस्ती की राजकुमारी नवमालिका को स्वप्न में देखता है । वह स्त्री की भूमिका धारण कर अन्तः पुर जाता है और राजकुमारी से मिलता है । इसी कहानी में एक स्थान पर कुक्कुटों की लड़ाई का वर्णन किया गया है । इसके बाद छठीं कहानी मित्रगुप्त की है, जो सुह्मदेव की राजकुमारी कन्दुकवती को प्राप्त करता है । इस कहानी में अनेकों समुद्रों और दूर देशों की यात्राओं का वर्णन है । इसी में ब्रह्म–राक्षस की कथानक रुढ़ि (मोटिक) का भी प्रयोग किया गया है । एक ब्रह्म राक्षस उससे चार प्रश्न पूंछता है और यह शर्त है कि अगर वह उसका उत्तर नहीं देगा तो वह उसे मार डालेगा । इन प्रश्नों के उत्तर में ही धूमिनी, गोमिनी निम्बवती नितम्बवती की कहानियाँ कहीं गयी है । इन सभी कहानियों का

सारांश यही जान पड़ता है कि चालाकी से ही व्यक्ति सफलता प्राप्त कर सकता है सातवी कहानी मत्रगुप्त की हैं, जिसमें दण्डी ने चित्र काव्य शैली का प्रयोग किया है । इस सारी कहानी में मंत्रगुप्त ओष्ठय वर्णों का उच्चारण नहीं करता, क्योंकि प्रेयसी के रागोदबोधक चुम्बनों तथा दन्तक्षतों ने उसको होठों को विकल बना रखा है । इस कहानी की घटनाएं कलिंग तथा आन्ध्र प्रदेशों में घटित होती है । आरम्भ में मन्त्रगुप्त एक कापालिक सिद्ध से कलिंगराज कर्दन की पुत्री कनकलेखा को बचाता है। कापालिक ने उसको यज्ञों के द्वारा शमशान में मँगवा लिया था, और वह उसकी बलि देना चाहता था । इस कहानी में भी मन्त्रसिद्धि के द्वारा रूप परिवर्तन वाली कथानक रूढ़ि की योजना पायी जाती है । जिसका प्रयोग उपहार वर्मा की कहानी में है । अंतिम कथा विश्रुति की है; जो दण्डी की अधूरी कहानी है । उत्तर पीठिका के लेखक ने उसे पूरा किया है इस कथा में विश्रुत अपने आश्रयदाता विदर्भ के राजकुमार के खोए राज्य को पुनः प्राप्त करता हैं । वह भगवती दुर्गा की मूर्ति के रूप में स्थित होकर अपनी इष्ट सिद्धि करता है ।

राजवाहन तथा उसके साथी भी बृहद्कथा के नरवाहन दत्त और उसके मित्रों की भांति एक दूसरे से विछुड़ जाते हैं, अलग-अलग देशों में जाकर नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं और बाद में सब मिल जाते हैं मिलने पर वे अपने अनुभवों की बातें करते हैं । एक कहानी में दूसरी तीसरी चौथी कहानी की श्रृंखला को आबद्ध करने के लिए यह टेक्निक निःसंदेह सुन्दर है,

जो समस्त कथाओं को एक सूत्र में अनुस्यूत कर एक प्रबंधत्व की स्थापना करती है । ऐसा करने से कहानियों के व्यापार वैचित्र्य के होते हुए भी विश्रृङ्खलता नहीं जान पड़ती । हर्वेल ने यहां तक कल्पना की है कि दण्डी की योजना केवल आठ उच्छ्वासों को आठ कुमारों की कथा कहने की ही न थी, अपितु वह गुणाढ्य की भाँति कहानियों का जाल फैलाना चाहते थे । हर्वेल ने इस संबन्ध में कुछ संकेत भी दिए हैं । राजा कामपाल तथा उसकी पांचों रानियों के तीन-तीन जन्म की कथाएँ कहना भी सम्भवतः दण्डी की योजना में था । उपलब्ध दशकुमार-चरितम् उस विशाल योजना का एक अंशमात्र है । यह हो सकता है कि दण्डी ऐसी योजना रही हो पर हर्वेल के अनुमान के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना असंभव है ।

इस प्रकार आचार्य दण्डी के महान् ग्रन्थ दशकुमारचरितम् में कथावस्तुओं का विन्यास किया गया है । यहॉ पर कई तरह की शैलियों का प्रयोग करके कथावस्तु में चाहना ला दी गयी है । कथा की मौलिकता ने फैली कुरीतियों से बचने का एक अच्छा उपाय है, क्योंकि समाज में हर तरह के लोग दृष्टिगोचर होते हैं । समाज सेवा और स्वामिभक्ति का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है । प्राप्त शिक्षा के आधार पर प्राणी कल्याण साधन कर सकता है ।

*****

चतुर्थ-अध्याय

सामाजिक पक्ष का विश्लेषण

(क) वर्णाश्रम व्यवस्था -

वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय तपोवन को रखा जा रहा है । तपोवन भारतीय संस्कृति का एक अविभाज्य अंग है । भारतीय संस्कृति से यदि तपोवन को हटा दिया जाय; तो वह एकदम भौतिक, नीरस तथा शुष्क प्रतीत होने लगेगा । प्राचीन भारत में तपोवन का नितान्त प्राचुर्य था; जहाँ मानव प्रकृति के साथ घुल-मिलकर एकरस जीवन बिताता था, जहाँ वह भूतल पर रहकर भी दिव्य आनन्द का अनुभव करता था । यज्ञ हमारे धर्म का एक महनीय अनुष्ठान है । इस जगतीतल पर मानव व देवता दोनों में एक दृढ़ मैत्रीबन्धन का सर्वश्रेष्ठ उपाय यज्ञ ही है। यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपनी सबसे प्यारी वस्तु को देवता को समर्पण कर, अपने को कृतकृत्य मानता है और देवगण भी यज्ञ के द्वारा आप्यायित होकर, मानवों के कल्याण-साधन में निरत रहते हैं । इसी प्रकार तपस्या के द्वारा प्राणी अपनी चारित्रिक त्रुटियों को, दोषों को, मलिनताओं को दूर भगाकर अपना जीवन समुन्नत बनाता है और उसे अपने देश व अपनी जाति के अभ्युत्थान में लगाता है । तपोवन का भौगोलिक तथा भौतिक रूप भी उतना ही शुचि तथा कमनीय होता है । तपोवन का वायुमण्डल, आध्यात्मिकता का उदय करता है । कल-कल निनादिनी कल्लोलिनी के पावन कूल पर तापसों का निवास है; जहाँ जंगल के पशु अपने स्वाभाविक वैरभाव को भुला कर,

परस्पर प्रीति से, एक-दूसरे से हिल-मिल जाते हैं । मृगशावक अपनी माता की गोदी को छोंड़कर ऋषियों की गोदी में बैठ कर अपना जीवन यापन करते हैं; और उनके कुश की तेज नोक से छिद जाने वाले मुख की पीड़ा को इंगुदी का तेल लगाकर ऋषि लोग दूर किया करते हैं । आश्रम में सायं, प्रातः अग्निहोत्र के धूम से वृक्षों के कोमल पत्ते धूमिल बनकर विचित्र शोभा धारण करते हैं । कुशासन पर आसीन ब्रह्मचारीगण वेदाध्ययन करते हैं और अपने कोमल साम का गायन कर आश्रम में अद्भुत माधुर्य एवं सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं । ऋषिगण अपनी पत्नी तथा कन्याओं के साथ गृहस्थ जीवन में रहकर भी वानप्रस्थी के समान जीवन व्यतीत करते हैं । परोपकार ही उनके जीवन का एकमात्र व्रत होता है । प्राणिमात्र के कल्याण की वेदी पर उनका जीवन समर्पित होता है । ये लोग अपनी शुभ कामनाओं की सिद्धि के लिए न तो सचेष्ट हैं, और न ही किसी को उपदेश देते हैं । ये सूक्ष्म सृष्टि से प्राणियों की त्रुटियों तथा दोषों को देखते हैं और उनके निराकरण करने के लिए सदा जागरूक रहते हैं । नगर से दूर रहने पर भी वे नगर के पास हैं । क्षुद्र स्वार्थ के सम्पादन के स्थान पर अपनी वाणी के द्वारा तथा अपने नित्यप्रति के सदाचार द्वारा इस विशाल विश्व का सच्चा मंगल साधन करना ही उनका महनीय व्रत है -

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

इसी उदार भावना को देखते हुए हर-प्राणी आश्रम व्यवस्था में जाकर तपस्या करते हुए वर प्राप्त करता है । दशकुमारचरितम् में जब राजा मालवेश से पराजित हो जाता है; तब भगवान् शंकर की आराधना करने के लिए तत्पर हो जाता है । इसकी सूचना राजहंस को उसी के द्वारा भेजे गए कपटवेशधारी संन्यासी के माध्यम से प्राप्त होती है । उधर मानसार, महाकाल निवासी पार्वतीपति भगवान् शंकर की आराधना अनवरत रूप से कर रहा है। उसकी आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने उसे वीर शत्रु को मारने वाली एक भयंकर, गदा दे दी, जिसके कारण मानी मानसार पुनः राजहंस के ऊपर चढ़ाई करने की तैयारी कर रहा है । यह आश्रम का ही प्रभाव है, अन्यथा वरदान के रूप में मानी मानसार को यह गदा कैसे मिलती ?

"मानी मानसारः स्वैनिकायुष्यान्तराये संपराये भवतः पराजयमनुभूय वैलक्ष्यलक्ष्यहृदयो वीतदयो महाकालनिवासिनं कालीविलासिनमनश्वरं महेश्वरं समाराध्य तपःप्रभावसन्तु-ष्टादस्मादेकवीरारातिघ्नीं भयदां गदां लब्ध्वाऽऽत्मानमप्रतिभटं मन्यमानो महाभिमानो भवन्तमभियोक्तुमुद्युङ्क्ते ।[1]

राजहंस के ऊपर जब मानसार चढ़ाई करने के लिए आ जाता है; तब वह किसी प्रकार समझा-बुझा कर रानियों को मुख्य सेनाओं की संरक्षकता में शत्रुओं से अगम्य विन्ध्य वन में भिजवा देता है और युद्ध के बाद उसका रथ भी उसी वन में जा पहुँचा । चूँकि आश्रमव्यवस्था जंगलों में ही फलीभूत हो सकती है; इसलिए परिस्थितिवश ही सही किन्तु सभी जंगल की ओर ही

1 दशकुमारचरित प्रथम उच्छ्वास

पलायन करते हैं। चन्द्रवंशी राजा राजहंस इस आपत्तिकाल में आश्रम- निवासी मनोरथपूर्णकर्ता तपोवन से देदीप्यमान और तपोधन वामदेव ऋषि के पास गए, वहाँ पहुँचने के बाद ऋषि वामदेव उचित सलाह देकर वहाँ से विदा कर देते हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि दोनों राजा ने अंत में आश्रम निवासियों के पास जाकर आत्मशान्ति प्राप्त किया ।

ततस्त्रिकालज्ञास्तपोधनो राजानमवोचत् सखे ! शरीरकार्श्यकारिणा तपसालम् । वसुमतीगर्भस्थः सकलरिपुकुलमर्दनो राजनन्दनो नूनं संभविष्यतिः कञ्चन काल तूष्णीमास्स्व इति ।[1]

तपोवन भारतीय संस्कृति के प्रधान पीठ है। आध्यात्मिकता के आगार, नैतिकता के निकेतन, सात्विकता के शुभसदन, भारतीय तपोवन हमारी आध्यात्मिक संस्कृति के कमनीय क्रीड़ा स्थल हैं । तपोवन के अंचल में हमारी संस्कृति जनमी और पनपी है । भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का पाठ विश्व को जिन ऋषियों ने पढ़ाया; उनका जीवन तपोवन में ही समृद्ध तथा विकसित हुआ था। जहाँ पाश्चात्य संस्कृति भोग की भावना पर आश्रित है; वहाँ हमारी संस्कृति त्याग की भावना पर प्रतिष्ठित है । उपनिषद् विश्वास के साथ पुकार कर विश्व को अपना संदेश दे रहा है ।[2]

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

---

1 दशकुमारचरित प्रथम उच्छ्वास
2 ईश उपनिषद्

इस जगतीतल पर जंगम तथा स्थावर जितने भी जीव निवास करते हैं उनमें अनुग्रह तथा निग्रह करने में समर्थ ईश्वर अन्तर्यामी रूप से वास करता है । अतः किसी दूसरे के धन की लिप्सा न रखो, अपने धन को त्याग के साथ भोगो ।

इसी भावना से प्रेरित होकर हर दुःखी प्राणी ऋषियों के पास जाकर आत्मतोष प्राप्त करता है । अपहारवर्मा राजवाहन का अन्वेषण करते हुए, अलौकिक दृष्टिवाले मरीचि ऋषि के पास पहुँचते हैं ; क्योंकि अपहारवर्मा यह जानता था कि उनके माध्यम से मेरे मित्र का पता चल सकता है । परन्तु किसी कारण उस समय वे परदेश गए हुए थे । इतना ही नहीं वेश्यावृत्ति को अपनाने वाली नारी भी जब दुःख से दुःखी होती है; तब वह परमशान्ति के लिए आश्रम की ओर दौड़ी चली आती है। दशकुमारचरित में काममंजरी की यही स्थिति है । जो ऑसू की बूँदों से उदासीन भाव से समीप आकर, पृथ्वी पर बिखरा हुआ केश पाश बिछाकर, ऋषिवर को प्रणाम करती है यही है आश्रम की आकर्षक शक्ति; जहाँ लोग नाना प्रकार के झंझटों से मुक्त होने के लिए आते हैं । संस्कृत साहित्य समग्र भारतीयता का व्यापक और सजीव स्वरूप प्रस्तुत करता है । यह स्वरूप तीन दृष्टियों और त्रिविधि स्तर पर हमारे महाकवियों ने उजागर किया है-आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक । आधिभौतिक स्तर पर संस्कृति इस देश के भूगोल, इतिहास तथा भौतिक पर्यावरण की झाँकी प्रस्तुत करती है । आधिदैविक स्तर पर देश में मनीषियों और विचारकों ने जो चिन्तन किया; उसकी अभिव्यक्ति हमारे कवियों ने की है ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के ये चार पुरुषार्थ या लक्ष्य हमारी परम्परा में स्वीकार किए गए हैं । साहित्य या काव्य भी इन चारों पुरुषार्थों की प्रतिपूर्ति के लिए हैं । आचार्य भामह कहते हैं :-

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।

काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ।

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं, प्रीतिं च साधु काव्यनिवेषणम् ।।[1]

जीवन का आध्यात्मिक स्वर समग्र ब्रह्माण्ड के स्वरूप का साक्षात्कार तथा आत्मबोध के लिए है । संस्कृत कवियों ने स्वयं आध्यात्मिक अनुभूति को प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा अपनी रचनाओं में प्रकट किया है ।

काममञ्जरी को इस त्रिविधि ताप से मुक्ति दिलाने हेतु; महर्षि मरीचि कहते हैं - हे कल्याणि ! यह वन में रहना दुख का जनक है; उसका फल मोक्ष या स्वर्ग है । उनमें से पहला मोक्ष उत्कृष्ट ज्ञान से संभव और सामान्यतः सम्पन्न करना असंभव है। तथा स्वर्ग उन सभी व्यक्तियों को सुलभ है; जो अपने वंश धर्म का अनुष्ठान करने वाले हैं । अतः असंभव प्रयत्न वाले काम से विरत होकर अपनी मां के संरक्षण में रहो; क्योंकि माता की छाया में रहना नारी जाति के लिए श्रेयष्कर होता है । इस प्रकार उपदेश आश्रमवसियों के अतिरिक्त कौन दे सकता है ?

---

1 [illegible]

अथ सा वारयुवतिस्तेन भद्रे, ननु दुःखाकरोऽयं वनवासः । तस्य फलमपवर्गः स्वर्गो वा । प्रथमस्तु तयोः प्रकृष्ट ज्ञानसाध्यः प्रायो दुःसंपाद एव द्वितीयस्तु सर्वस्यैव सुलभः कुलधर्मानुष्ठायिनः। तदशक्यारम्भादुपरम्य मातुर्मते वर्तस्व इति सानुकम्पमभिहिता ।[1]

महाकवि कालिदास द्वारा प्रणीत रघुवंश महाकाव्य में जो घटनाएँ निरूपित की गई हैं, उनमें से अधिकतर आश्रम व्यवस्था के अनुरूप ही हैं । महाराज-रघु का जन्म, महाराज दिलीप के आश्रम-निवास तथा गो-सेवा का परिणत फल है । रघु के जीवन की उदारता देखकर कौन चकित नहीं हो जाता? भला ऐसा आदर्श महीपति भी किसी पाश्चात्य राष्ट्र के सिंहासन पर बैठा है। महर्षि वरतन्तु का शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के निमित्त धन संग्रह के लिए राजारघु के पास पहुँचता है । सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ में महाराज रघु ने अपना सर्वस्व लुटा दिया है । केवल मिट्टी का बर्तन ही बच रहा है; परन्तु महर्षि वसिष्ठ के आथर्वण प्रयोगों के फलस्वरूप रघु का भण्डार असंख्य निधियों से भर जाता है । महाराज रघु अपने खजानों की समस्त संपत्ति को उठा ले जाने के लिए आग्रह करते हैं; परन्तु अपनी प्रतिज्ञात गुरुदक्षिणा से अधिक एक कौड़ी भी कौत्स नहीं छूता ।

आश्रमों के माध्यम से ही प्राचीन काल में शिक्षा की व्यवस्था थी । राजकुमार राजवाहन बालक्रीड़ा करता हुआ; जब अध्ययन के योग्य हो गया तब उसने सारी लिपियाँ सीखी; सब देश की भाषाओं की जानकारी के साथ-साथ अङ्ग सहित चारों वेदों में पाण्डित्य हासिल किया । काव्य, नाटक (रूपक), आख्यानक

(चूर्णक), आख्यायिका (कादम्बरी आदि), इतिहास (महाभारत), चित्रकथा (रमणीय कथा) सहित पुराणों की निपुणता; धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, मीमांसा, तर्क (न्यायशास्त्र) आदि शास्त्रों की चतुरता; कौटिल्य, कामन्दकीयादि नीतिशास्त्रों का कौशल, वीणा आदि सभी वाद्ययंत्रों को जानने की दक्षता; संगीत, साहित्य में मनोहरता; मणि-मन्त्र, औषध आदि मायाप्रपंच में प्रसिद्धि; हाथी, घोड़े आदि वाहनों पर चढ़ने की पटुता; विभिन्न प्रकार के अस्त्रों के परिचालन में चतुरता के साथ-साथ, चोरी, जुआ, आदि छल, कपअ कलाओं में प्रौढ़ता भी उन-उन विषयों के विशेषज्ञ आचार्यों से समयक् रूप से प्राप्त कर लिया ।

ततः सकल — लिपि-ज्ञानं, निखिलदेशीयभाषापाण्डित्यं, षडङ्गसहित- वेदसमुदायकोविदत्वं, काव्यनाटकाख्यायिकेतिहासचित्र-कथासहितपुराणगणनैपुण्यं, धर्मशब्दज्योतिष्तर्कमीमांसादिसमस्त-शास्त्रनिकरचातुर्यं, कौटिल्यकामन्दकीयादिनीतिपटलकौशलं, वीणाद्य-शेषवाद्यदाक्ष्यं संगीतसाहित्यहारित्वं मणिमन्त्रौषधादिमायाप्रपंचचुंचुत्वं, मातंगतुरंगादिवाहनारोहणपाटवं विविधायुधप्रयोग-चणत्वं चौर्य दुरोदरादिकपटकलाप्रौढत्वं च तत्तदाचार्येभ्यः सम्यग्लब्ध्वा ।[1]

दशकुमारचरित के उत्तरपीठिका में भी वानप्रस्थ आश्रम की चर्चा की गई है । राजा राजहंस और रानी वसुमती राजवाहन को युवराज पद पर अभिषिक्त करके; स्वयं वानप्रस्थ आश्रमी होना चाहते हैं । इसलिए उन्होंने ऋषि से नम्रता-पूर्वक निवेदन किया श्रीमन् ! आपकी कृपा से हमने मनुष्य के मनोरथ से परे, वाणी और मन से भी परे, सुख की प्राप्ति की है । इसके बाद स्वामी

---

1 दशकुमारचरित पूर्वपीठिका प्रथम उच्छ्वास।

के चरणों के सामीप्य में वानप्रस्थ आश्रम को प्राप्त कर, आत्म साक्षात्कार करना ही उचित है । इसलिए पुष्पपुर राज्य तथा मानसार के राज्य पर राजवाहन का अभिषेक कर, बचे राज्य को यथोक्त रीति से नौ कुमारों को देकर स्वामी (आप) को ऐसा उपाय करना चाहिए कि वे कुमार राजवाहन के आज्ञाकारी होकर उसकी सहमति से चलते हुए, चार समुद्रों की करधनी वाली पृथ्वी का उपभोग करें । पिता राजवाहन के वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने का पुत्रों द्वारा निषेध का आग्रह सुनकर ऋषि ने उसने कहा हे बच्चों ! तुम्हारे ये पिता इस उम्र के उपयुक्त मार्ग में रहते हुए, शरीर-कष्ट के बिना ही मेरे आश्रम में रहते हुए वानप्रस्थ का अवलम्बन करने के इच्छुक है; तुम्हे इन्हे कदापि मना नही करना चाहिये। इस आश्रम में रहकर वे भगवान् की भक्ति प्राप्त करेगे। तुम लोग पिता के सामीप्य में सुख प्राप्त न कर पाओगे। महर्षि की यह आज्ञा पाकर, उन्होंने पिता की वानप्रस्थ प्राप्ति के निषेध का हठ छोड़ दिया ।

भगवन्! तव प्रसादादस्माभिर्मनुजमनोरथाधिकमवाङ्मनसगोचरं सुखमधिगतम्! अतः परं मम स्वामिचरणसंन्निधौ वानप्रस्थाश्रमधिगत्यात्मसाधनमेव विधातुमुचितम्! अतः पुष्पपुरराज्ये मानसारराज्ये राजवाहनममभिषिच्यावशिष्टाानि राज्य नवयानि नवभ्यः कुमारेभ्यः यथोचितं संप्रदाय ते कुमारा राजवाहनाज्ञाविधाविधायिनस्तदेकमत्या वर्तमानाश्चतुरुदधिमेखलां वसुंधरां समुद्धृत्य कण्टकानुपभुंजन्ति तथा विधेयं स्वामिना इति। तेषां तत्पितुर्वानप्रस्थाश्रमग्रहणोपक्रमनिषेधे भूयांसमाग्रहं विलोक्य मुनिस्तानवदत् -भो कुमारकाः अयं युष्मज्जनक एतद्वयः-समुचिते पथि वर्तमानः कायक्लेशं विनैव मदाश्रमस्थो वानप्रथाश्रमाश्रयणं सर्वथा

भवद्भिर्न निवारणीयः। अत्र स्थितस्त्वयं भगवद्भक्तिमुपलप्स्यते। भवन्तश्च पितृसंनिधौ न सुखमवाप्स्यन्ति इति। महर्षेराज्ञामधिगम्य ते पितुर्वानप्रथाश्रमाधिगम प्रतिषेधाग्रहमत्यजन्।

इस प्रकार दशकुमारचरितम् में वर्णाश्रम व्यवस्था को समुचित रूप से दिखाया गया है। जीवन को आध्यात्मिक भावना से पूर्ण करने का, परोपकार की वेदी पर क्षुद्र स्वार्थों के बलिदान का, परस्पर मैत्री तथा सहानुभूति का सुंदर संदेश हमें भारतीय आश्रम ही दे रहे हैं। आचार्य दण्डी की आश्रम व्यवस्था सर्वथा वैज्ञानिक एवं समयानुरूप है। आश्रमों में रहने वाले ऋषियों का उपदेश सभी के लिए कल्याणकारी है।

(ख) राजनीतिक व्यवस्थाः-

राजनीतिक व्यवस्था की पृष्ठभूमि देखने के लिए हमें वैदिककाल में जाना होगा। क्योंकि वही तो मूल है। ऋग्वेदकाल के प्रत्येक जन(जाति) का आधिपत्य राजा के हाथ में होता था। राजसत्ता का प्रादुर्भाव वेद की दृष्टि में युद्धकाल से सम्बन्ध रखता है। ऐतरेय ब्राह्मण (1/14) की मान्यता के अनुसार देवों ने विचार किया था कि असुरों के हाथों हमारे पराजय का यही कारण है, कि हम लोग राजा से विहीन है। अतएव उन लोगों ने एक बलिष्ठ तथा ओजस्वी इन्द्र को अपना राजा बनया । उससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में राजपद निर्वाचन का विषय था और इसकी उत्पत्ति युद्धकाल में हुई। समिति में एकत्र होने वाली प्रजा के द्वारा राजा चुना जाता था । उपस्थित प्रजा एक राय होकर राजा को उसके महनीय पद के लिए चुनती थी और इससे विश्वास किया जाता था कि वह अपने पद से कभी भ्रंश को न

पावेगा। अथर्ववेद (7187-8३) तथा ऋग्वेद (10/173) में पूरा सूक्त ही राजा के निर्वाचन के लिए प्रयुक्त हुआ था । इस मंत्र में समिति के द्वारा राजपद के निर्माण की धारणा स्पष्टतः घोषित की गयी है-

ध्रुवाऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रून् छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।

सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिं कल्पतामिह।।[1]

अपने पद से च्युत होने पर राजा अपने पद तथा देश से च्युत कर दिया जाता है तथा अपने दोषों को स्वीकार करने पर वह फिर से चुना जाता है। इस पुनर्स्थापना तथा प्रजा के द्वारा राजा के संवरण का उल्लेख अथर्ववेद के दो सूत्रों में विशदतया किया गया है। विश् के द्वारा राजा के संवरण का निर्देश यह मंत्र करता है।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमां प्रदिशः पञ्च देवीः।

वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि।[2]

राजसिंहासन पर बैठने के बाद राजा के बनाने वालों से (राजकृतः) जो पिछले युग के प्रमाणों पर राज्य के उच्च अधिकारी या मन्त्री हुआ करते थे,अपने प्रभुशक्ति प्रतीकात्मक मणि को प्राप्त किया करते थे।अथर्ववेद में ऐसे अवसर पर राजा के द्वारा कहे गए वाक्यों का निर्देश है। जिसमें वह पलाशपूर्ण या माणि से प्रजा को

---

1 अथर्ववेद -6-88-3

2 अथर्ववेद -3-4-2

अनुकूल सहायक बनने की प्रार्थना करता है। राजा अपने जीवन काल के लिए निर्वाचित होता है। उसकी सहायता के निमित्त दो विशिष्ट जनसंघों का निर्देश ऋग्वेद में मिलता है, जिसमें से एक का नाम था समिति तथा दूसरे का नाम था सभा। इन सदस्यों का पृथक्-पृथक् क्या कार्य था? इसके विषय में विद्वानों में एकवाक्यता नहीं है परन्तु अधिकांश वेदज्ञों की सम्मति में पूरे राष्ट्र की संस्था थी, जिसमें राष्ट्र की समस्त जनता एकत्र होकर राजा का निर्वाचिन किया करती थी। समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य थी। राजा का यह कर्तव्य था कि वह समिति में अवश्य आये। ऋग्वेद में समिति में जाने वाले सच्चे राजा का निर्देश उपमानरूपेण किया गया है। छान्दोग्य के अनुसार जब श्वेतकेतु आरुणेय गौतम पञ्चालों की समिति में गए थे, तब उनके राजा प्राहवण जाबालि वहाँ उपस्थित थे तथा उनसे पाँच अध्यात्मविषयक प्रश्नों को पूँछा। इस घटना का तात्पर्य यह है कि समिति जातीय राष्ट्रसभा ही न थी, प्रत्युत एक जातीय साहित्य सभा के भी समान थी।

समिति के समान तथा समकक्ष एक अन्य राजनैतिक संगठन था, जो सभा के नाम से विख्यात था। सभा और समिति दोनों ही प्रजापति की पुत्रियाँ मानी गयी हैं। 'सभा च सा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने'। दोनों ही जनता के द्वारा चुनी गयी संस्थाएँ थीं। अथर्ववेद के एक मन्त्र में सभा नरिष्टा के नाम से मण्डित है। सायण-भाष्य के अनुसार इस शब्द का तात्पर्य है कि सभा में अनेक लोग मिलकर जिस निर्णय पर पहुँचते थे, सबके लिए अनुसंघनीय होता था। सभा

में सभासदों के बीच विशेष किसी प्रश्न के ऊपर स्वतन्त्रतापूर्वक विवाद होता था तथा निर्णीत सिद्धान्त सबके लिए मान्य तथा अनिवार्य होता था। इसलिए शुक्ल यजुर्वेद की सांस्कृतिक प्रार्थना में युवा पुरुषों को सभा में योग्य होने की मनीषा प्रकट की गयी है। (सभेया युवा)। समिति तथा सभा के निर्वाचन में एक पार्थक्य दृष्टिगत होता है। समिति में जनसाधारण को स्थान मिलता था परन्तु इसके विपरीत सभा में राष्ट्र में वृद्धों को ही स्थान मिलता था।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः।

'न सभा यत्थ न सन्त मंति संतो' (जातक की कथा)

आदि वाक्यों का निष्कर्ष यही है कि सभा राष्ट्र के वृद्धों की एक विशिष्ट संस्था थी। इसका कार्य अपराधियों के अपराध का निर्णय करना तथा तदनुसार दण्डविधान होता था। क्योंकि पारस्कर गृह्यसूत्र में सभा के लिए 'नादि तथांत्विषि' शब्दों का प्रयोग किया गया है। जिनका तात्पर्य जयराम की व्याख्या के अनुसार धर्म निरूपण करने से नदनशील तथा दीपनशील(नदनशीलादीप्ता धर्म निरूपणात्) प्रतीत होता है। फलतः सभा उच्च न्यायालय का कार्य सम्पादन करती थी। इन्हीं की सहायता से राजा अपने कार्य का निर्वाह करता था।

राजा का कर्तव्य केवल शान्ति काल में प्रजा का पालन ही नहीं होता था परन्तु उसका एक प्रधान कार्य युद्ध के समय शत्रुओं के आक्रमणों से अपनी प्रजा की रक्षा करना भी था। राजा स्वयं युद्ध में जाता था तथा उनके साथ उनका सेनानी

(सेनापति) और पुरोहित भी अवश्यमेव रहते थे । पुरोहित का काम युद्ध स्थल में देवताओं की प्रार्थना कर राजा को विजय में सहायता करना होता था । दाशराज युद्ध के अवसर पर सुदास के साथ उनके पुरोहित वसिष्ठ के रहने तथा विजय के निमित्त देव प्रार्थना करने का स्पष्ट निर्देश मिलता है । इस प्रसंग में पुरोहित की महत्ता पर ध्यान देना आवश्यक है । ब्राह्मण काल में राजा का पद नितान्त प्रतिष्ठित हुआ तथा उसके अधिकारों में भी विशेषरूप से वृद्धि सम्पन्न हुई । अभिषेक के निमित्त उपादेय यागों में राजसूय महत्त्वशाली है । उसके स्वरूप की मीमांसा करने से प्रजा की प्रभुशक्ति के गौरव का परिचय मिलता है । राजा होने के निमित्त राजसूय का विधान नियत किया गया था । कालान्तर में अश्वमेध का अनुष्ठान सम्राट् तथा चक्रवर्ती पद के लिए आवश्यक बतलाया गया है । 11 अधिकारी 'रत्नी' के नाम से प्रख्यात थे; जिनके पास अभिषेक से पहले राजा को जाना आवश्यक था । इनके नाम ये हैं- सेनानी (सेना का अध्यक्ष), पुराहित, अभिषेचनीय राजा, महिषी (राजा की पटरानी), सूत, ग्रामणी (ग्राम या पंचायत का अध्यक्ष), क्षत्तृ, संग्रहीता (कोषाध्यक्ष) भागदुह (प्रजाओं से कर वसूली करने वाले अधिकारी), अक्षावाप (रुपये पैसे के हिसाब रखने वाले अधिकारी) गोविकर्ता (जंगल का अधिकारी)। 'वेद में उल्लिखित 'राजकृतिः' के ही ये ब्राह्मणयुगीन प्रतिनिधि थे। राज्य, दान नहीं है, प्रत्युत एक संरक्ष्य वस्तु है, जिसकी रक्षा करना राजा का उच्चतम लक्ष्य है। राज्य राजा को किस लिए दिया जाता है। इस प्रश्न का उत्तर इन वाक्यों में सुन्दरता से दिया गया है। राज्यभोग की वस्तु नहीं है जिसे राजा अपनी स्वच्छन्द अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए उपयोग करे, प्रत्युत

उसका प्रधान कर्तव्य कृषि के द्वारा उसमें समृद्धि उत्पन्न करना है। कल्याण तथा तुष्टि सम्पन्न करना होता है। इन कथनों से वैदिक राज्यों के कर्तव्यों का परिचय हमें पूरा मिलता है। अभिषेक के अवसर पर की गयी प्रतिज्ञा हमें निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि राजा प्रजा का यथान्तितः सेवक है। प्रजा के कल्याण के निमित्त वह एक प्रतिष्ठापित पदाधिकारी है। जब तक उस प्रतिज्ञा को निभाता है तब तक वह सिंहासन पर बैठने की योग्यता रखता है, अन्यथा वह हटाया जा सकता है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से हिन्दू राजा स्वेच्छाचारी नरपति कभी नहीं होता था । सभा तथा समिति की सहायता से राष्ट्र का मंगल-साधन करना ही वैदिक राजा का चरम लक्ष्य था।

इस तरह वैदिक साहित्य की राजनीतिक दशा देखने के बाद लौकिक साहित्य की राजनीतिक दशा अवलोकनीय है । दण्डी के दशकुमारचरित के अष्टम उच्छ्वास में राजनीतिक उपदेश का वर्णन मिलता है ।

विश्रुतचरित का राजनीति वाला उपदेश चाहे कादम्बरी के शुकनासोपदेश की तरह पैमाने का न हो। किन्तु इनकी अपनी सरल स्वाभाविक शैली के लिए बेजोड़ है । अनन्तवर्मा को वसुरक्षित नामक वृद्ध मन्त्री के द्वारा दिया गया उपदेश निम्न है-

तथाप्यसावप्रतिपद्यात्मसंस्कारमर्थशास्त्रेषु, अनग्निसंशोषितेव हेमजातिर्नातिभाति बुद्धिः । बुद्धिशून्यो हि भूभृदत्युच्छ्रितोऽपि परैरध्यारुह्यमाणमात्मानं न चेतयते। न च शक्तः साध्यं साधनं वा विभज्य वर्तितुम्। अयथावृत्तश्च कर्मसु प्रतिहन्यमानः स्वैः परैश्च परिभूयते। न चावज्ञातस्याज्ञा प्रभवति प्रजानां योगक्षेमाराधनाय ।

अतिक्रान्तशासनाच्च प्रजा यत्किंचनवादिन्यो यथाकथंचिद्वर्तिन्यः सर्वाः स्थितीः संकरेयुः । निर्मर्यादश्च लोकादितोऽमुतश्च स्वामिनमात्मानं वा भ्रंशयते । आगमदीपदृष्टेन खल्वध्वना सुखेन वर्तते लोकयात्रा । दिध्यं हि चिक्षुर्भूतभवत्वियत्सु व्यवहृतविप्रकृष्टाविषु च विषयेषु शास्त्रं नामाप्रतिहतवृत्ति । तेन हीनः सतोरप्यायतविशालयोर्लोचनयोरन्ध एव जन्तुरर्थदर्शनिष्वसामर्थ्यात् । अतो विहाय, बाह्यविद्यास्वभिषङ्गमागमय दण्डनीतिं कुलविद्याम् ।[1]

ब्रह्मण-ग्रथों में राज्याभिषेक का बहुशः वर्णन मिलता है; जो राजनीतिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्व रखता है । शतपथ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस अवसर पर राजा को प्रतिज्ञा करनी पड़ती है । इसका उल्लेख मात्र है । परन्तु इसका पूरा वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक के अवसर पर दिया गया है । देवों में इन्द्र अत्यन्त बलशाली ओजिष्ठ तथा सहिष्णु थे, और इन्हीं से मुग्ध होकर देवों ने उन्हें अपना राजा बनाया तथा उनको महाभिषेक संस्कार से सम्पन्न किया क्षत्रिय राजाओं का भी महाभिषेक इसी पद्धति पर किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में अभिषेक की इसी पद्धति पर राजा अपनी प्रजा के सामने एक बड़ी प्रतिज्ञा करता है । जिसका राजनीतिक मूल बहुत ही गंभीर व सातिशय है । राजा ब्रह्म के साथ वह प्रतिज्ञा उद्घोषित करता है -

यां च रात्रिमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेण इष्टा ।
पूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदिते द्रुह्येयमिति [2]।।

---

1 दशकुमारचरितम्

2 ऐतरेय ब्राह्मण 8/3/15

अर्थात् जिस रात को मैं पेदा हुआ तथा जिस रात को मैं मरूँगा इन दोनों के बीच में जितने यज्ञीय अनुष्ठान मैने किये हैं; उनसे तथा स्वर्ग लोक, अपने जीवन, अपनी संतान से वंचित हो जाऊँ; यदि मैं तुमसे द्रोह करूँ (पीड़ा पहुचाऊँ) । यह प्रतिज्ञा राज्य के प्राप्ति के अवसर पर अवश्यमेव करनी पड़ती है। इस घोषणा के अन्तर्गत इसे व्याघ्रचर्म से आच्छादित कर आसन्दी (काल निर्मित सिंहासन) पर बैठने के लिए आज्ञा दी जाती है तथा पुरोहित उसके ऊपर सोने के थाली से एक सौ या नव छिद्रों से बहने वाले जल के द्वारा अभिषेक करता है तथा शुक्ल यजुर्वेद के कतिपय मंत्रों का इस प्रसंग में उच्चारण करता है । तीन सीढ़ी ऊपर चढ़कर राजा लकड़ी के सिंहासन पर बैठता है; तब उसे राज्य पद प्रदान किया जाता है । इस अवसर पर प्रयुज्यमान वाक्य बड़े ही महत्त्व के हैं ।

इयं ते राट् . यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः ।
कृषै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ।।[1]

तुमको यह राष्ट्र दिया जाता है .... तुम इसके नियमन करने वाले हो, तुम दृढ़ हो तथा धारणकर्ता (राज्य या उत्तरदायित्व के योग्य) हो। कृषि कर्म के लिए, कल्याण के लिए, समृद्धि के लिए तथा पुष्टि के लिए तुम्हें यह राज्य दिया गया है। इन वाक्यों के अन्तर्गत यह आसन ग्रहण करता है। इन वाक्यों के अनुशीलन करने से वैदिककालीन राज्यविषयिणी, धारणा का भव्य रूप हमारे सामने उपथित हो जाता है। राज्य राजा को

---

1 शतपथ ब्राह्मण- 5/2/1/25

किसी दैवीय शक्ति से प्राप्त नहीं हुआ, प्रत्युत यह मानवों की ही एक सृष्टि है।

''तदर्थानुष्ठानेन चावर्षितशक्तिसिद्धिरस्खलितशासनः शार्षिं चिरमुदधिमेखलामुर्वीम्।''[1]

'तात (यद्यपि तुम समस्त कलाओं में प्रवीण हो और उस क्षेत्र में तुम्हारी बुद्धि और लोगों से बढ़कर है तथापि जब तक वह अर्थशास्त्र (राजनीतिक) में अपना संस्कार नहीं कर लेती, तब तक आग में न तपाए हुए, सोने की तरह सुशोभित नहीं होती। बुद्धिशून्य राजा उन्नतिशील होने पर दूसरे के द्वारा आक्रान्त होने पर अपने आपको 'नहीं संभाल पाता। वह साध्य तथा साधन का विभाग कर किसी कार्य को करने में समर्थ नहीं होता। निश्चित व्यवहार में पक्ष न होने के कारण प्रत्येक काम असफल होकर, वह अपनों और दूसरों से तिरस्कृत होता है। लोग उसका अनादर करने लगते हैं और उसकी आज्ञा प्रजा के योग-क्षेम में असफल रहती है। उसकी प्रजा अनुशासन को भंग कर चाहे जो बकने लगती है, मनमानी करने लगती है और राज्य की सारी स्थिति बिगड़ जाती है। अनुशासनहीन अच्छृङ्खल प्रजा अपने आपको तथा अपने राजा को भी, इस लोक तथा परलोक दोनों से गिरा देती है। शास्त्ररूपी दीपक के द्वारा देखे गए मार्ग पर बिना किसी कष्ट के सुख की यात्रा की जा सकती है। शास्त्र एक ऐसा दिव्यक्षेत्र है, जो भूत वर्तमान तथा भविष्यत् नजदीक और ओट में छिपे हुए या दूर के पदार्थ सभी को बिना किसी रोक-टोक के देख पाता है। शास्त्ररूपी दिव्यनेत्र से हीन व्यक्ति भौतिक नेत्रों के

---

1 अपर्वविद- 3/2/12

होते हुए भी अन्धा ही माना जाएगा, क्योंकि वह पदार्थों का वास्तविक स्वरूप देखने के सामर्थ्य से रहित है। इसलिए बाहर की विद्याओं में दिलचस्पी छोंड़कर, तुम अपनी कुलविद्या-दण्डनीति (राजनीतिक) का सेवन करो। इसका सेवन करने से तुम्हें समस्त शक्तियों (प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति, उत्साहशक्ति) और सिद्धियों (प्रभुसिद्धि, उत्साहसिद्ध) की प्राप्ति होगी और फिर तुम बिना किसी विध्न के अस्खलितशासक होकर आसमुद्र पृथ्वी का पालन करो।

बालचंद्रिका का चतुर्थ उच्छ्वास में जो वर्णन आया है, उसमें भी एक साहसी पुरूष के रूप में पुष्पोद्भव का चरित्र सामने प्रकट होता है। जब दारूवर्मा बालचंद्रिका के साथ रति संबंध स्थापित करना चाहता है, तब वह परेशान होकर पुष्पोद्भव के पास अपनी रक्षा हेतु गुहार लगाती है।

पुष्पोद्भव भी दारुवर्मा को मारने का उपाय होता है। वह बालचद्रिका से कहता है कि नगर में अपवाद फैला दो कि बालचद्रिका के ऊपर यक्ष रहता है और तुम्हारे साथ हम स्त्री का वेश धारण करके दारुवर्मा के घर पहुँचकर उसका वध कर देंगे। तद्वत अफवाह फैल जाने के बाद बालचंद्रिका के साथ छिपे तौर पर पुष्पोद्भव भी दारुवर्मा के घर पहुँचता है। दारुवर्मा बड़े स्वागत के साथ बालचद्रिका सहित पुष्पोद्भव को अन्तःपुर में प्रविष्ट होने की आज्ञा दे देता है। इस प्रकार प्रष्पोद्भव राजवाहन से अपना कथानक बताते हुए कहता है कि-

विवेकशून्यबुद्धि वाले दारुवर्मा ने रागातिरेक के कारण रत्नजटित सोने के पलंग पर छिपे हंस के समान स्वच्छ रुई से

भरे गद्दे पर उस तरुणी बालचंद्रिका को बिठाकर उसके साथ ही अंधकार के कारण तथा मनोरम स्त्री का वेष धारण कर लेने से मेरे पुंसत्व को न जानकर मुझे भी अनेक प्रकार के मणिजटित आभूषण, महीन रंग-बिरंगे वस्त्र, कस्तूरी मिश्रित चन्दन , कर्पूर से सुवासित पान, सुगंधित पुष्प आदि वस्तुओं को समर्पित कर हास-परिहास करते हुए. दो घड़ी तक वहीं बैठा रहा-
''विवेकशून्यमतिरसौ, रागातिरेकेण रत्नखचितहेमपर्यङ्कं हंसतूलगर्भशयनमानीय, मह्यं तमिस्रासम्यगनवलोकित पुंभावाय मनोरम -स्त्रीवेषाय च चामीकरमणिमयमण्डनानि सूक्ष्माणिचित्रवस्त्राणि कस्तूरिकामिलितं हरिचन्दनं कर्पूरसहितं ताम्बूलं सुरभीणि कुसुमानीत्यादिवस्तुजातं समर्प्य मुहूर्त्तद्वयमात्रं हासवचनैः संलपन्नतिष्ठत्।

तदनन्तर कामान्ध होकर वह वालचंद्रिका के स्तनों को पकड़ने के लिए उद्यत हुआ। (उसकी क्रूर हरकत से) क्रोध से लाल हुआ, मैं उसे निःशंक होकर पलंग के नीचे गिराकर, लात-घूसों के प्रहार से मार डाला। तीव्र बाहुयुद्ध के कारण अव्यवस्थित हो गए, अपने आभूषणों को पूर्ववत् ठीककर, भय से काँपती हुई इस नतांगी बालचंद्रिका को सान्त्वना देता हुआ मैं आंगन में आकर भय से घबराते हुए के समान जोर-जोर से चिल्लाने लगा- हाँय ! हाँय!

ततो रागान्धतया सुमुखीकुचग्रहणे मति व्यधत्त। रोषारुणितोऽहमेनं पर्यङ्कतलान्निःशंको निपात्य मुष्टिजानुपादाघातैः प्राहरम् । नियुद्धरभसविकलमलङ्कारं पूर्ववन्मेलयित्वा भयकम्पितां नताङ्गीमुपलालयन्मदिरांगणमुपेतः साध्वसकम्पित इवोच्चैरकूजमहम्[1]।

---

1 दशकुमारचरितम् पूर्वपीठिका चतुर्थ उच्छ्वासः ।

इस प्रकार मेरे कहने पर वहाँ एकत्रित लोग आँखों में आँसूभर करुणार्द्र हो गए । अतःयहाँ कहा जा सकता है कि अच्छी राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने के कारण ही उपाय विशेष से दारुवर्मा जैसे आततायी को पुष्पोद्भव नष्ट करने में समर्थ हुआ ।

इसी प्रकार पूर्वपीठिका के तृतीय उच्छ्वास में सोमदत्त का चरित्र सामने आता है । जब सोमदत्त को उज्ज्वल रत्न की चोरी लगी और वह कारागार में डाल दिया जाता है, तब कारागार में रहने वाले मित्रों को साथ लेकर अर्धरात्रि में बन्धनों को तोड़कर, सोए हुए पहरेदारों के शस्त्रों को लेकर, प्रबल पराक्रमी मानपाल के शिविर में पहुँच जाता है । मानपाल उसका बहुत सम्मान करता है । हे राजन्! इस प्रकार मैं मानपाल के साथ मत्तकाल से युद्ध करने के लिए तैयार होकर चल दिया । पहले ही युद्ध का निश्चय किए बैठा अभिमानी मानपाल भी सुसज्जित सेना के साथ युद्ध की ‘कामना से निडर होकर निकल पड़ा । मैं भी अति आदर और सत्कार के साथ मन्त्री द्वारा प्रदत्त अनेक घोड़ों से युक्त रथ चतुर सारथी, दृढ़ कवच मेरे योग्य धनुष, अनेक प्रकार के बाणों से भरे दो तरकस और युद्ध के योग्य शस्त्रों को लेकर, युद्ध के लिए तत्पर हो गया । मेरे पराक्रम पर विश्वास कर, शत्रुदल के उन्मूलन को उत्सुक मन्त्री मानपाल के पीछे-पीछे चल पड़ा । परस्पर द्वेष और क्रोध से भरी, घमासान युद्ध करने वाली दोनों सेनाओं को लाँघकर अपने देदीप्यमान भुजाओं के पराक्रम से शत्रु सेना पर बाणवर्षा करता हुए मैने शत्रुओं को मारना प्रारंभ कर दिया[1] ।

[1] दशकुमारचरितम् पूर्वपीठिका चतुर्थ उच्छवास पृष्ठ - 73-74

दशकुमार पूर्वमेव कृतरणनिश्चयो मानी मानपालः सन्नद्धायोधो युद्धकामो भूत्वा निःशंकं निरगात् । अहमपि सबहुमानां मंत्रिदत्तानि बहुलतुरंगमोपेतं चतुरसारथिं रथं च दृढतरं कवचं मदनुरूपं चापं च विविधबाणपूर्णं तूणीरद्वयं रणसमुचितान्यायुधानि गृहीत्वा युद्धसन्नद्धो मदीयबलविश्वासेन रिपूद्धरणोद्युक्तं मन्त्रिणमन्वगाम् । परस्परमत्सरेण तुमुलसंगरकरमुभयसैन्यमतिक्रम्य समुल्लसद्भुजाटोपेन बाणवर्षं तदंगे विमुंचन्नरातीन्प्राहरम् ।

इस तरह पराक्रम से विजय प्राप्त करने वाले सोमदत्त के साथ राजा वीरकेतु ने अपनी कन्या वामलोचना का विवाह कर दिया और युवराज पद पर सोमदत्त को प्रतिष्ठित कर दिया। युद्ध विषयक शिक्षा प्राप्त होने के कारण सोमदत्त सैनिकों को पराजित करके, अभिमानी शत्रु का भी सिर काट डालने में समर्थ हुआ ।

इसी प्रकार दशकुमारचरितम् में अनेक ऐसी पराक्रम की कथाएँ वर्णित हैं, जिनके माध्यम से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था सुदृढ़ भित्ति पर अवस्थित थी । उस समय राजाज्ञा ही सर्वोपरि हुआ करती थीं । क्योंकि जब राजहंस को लोगों ने युद्ध करने से विमुख करना चाहा तब भी वह युद्ध से विरत नहीं हुआ और उसकी आज्ञा पाकर सभी सैनिक युद्ध करने के लिए चतुरंगिणी सेना सजाकर चल देते हैं । वैदिककाल से लेकर तत्कालीन समय तक राजनीतिक दशा एक समान थी । राजवाहन को भी दर्पसार के द्वारा कारागार में डालकर यह प्रकट किया गया है कि राजाज्ञा ही सर्वोपरि होती थी । चण्डवर्मा, सिंहवर्मा आदि की कथाओं से भी यह मालूम होता है कि राजनीतिक व्यवस्था सुचारु रूप से उस समय संचालित थी ।

(ग) सामाजिक आचार :-

1. आदर्श -

सामाजिक आचार को समझने के लिए वैदिक कालीन समाज से लेकर तत्कालीन समाज का अवलोकन समीचीन होगा। अतः प्रथमतः वैदिक कालीन समाज का अवलोकन किया जा रहा है । वेदकालीन समाज पितृमूलक समाज था । पिता ही प्रत्येक घर का नेता तथा पुरस्कर्ता था । पुत्र तथा पुत्री, वधू तथा स्त्री सब लोग उसी की छत्र-छाया में अपना सुखद समय बिताते थे । पिता केवल पुत्रों को ही शिक्षा नहीं देता था । प्रत्युत पुत्रियों को भी ललितकला की शिक्षा देकर सुयोग्य गृहिणी बनाता था । उपनयन संस्कार के अनन्तर गुरु के पास जाकर वेदाध्ययन की भी प्रथा थी । प्राचीन काल में स्त्रियों के भी मौञ्जीबंधन का उल्लेख मिलता है । शिक्षा प्राप्त बालिकाओं में से कुछ तो विवाह कर गृहस्थी के कार्य में जुट जाती थीं, परन्तु कतिपय आजन्म ब्रह्मचारिणी (ब्रह्मवादिनी के नाम प्रख्यात) बनकर विद्या तथा आध्यात्म की उपासना में अपना जीवनयापन करती थीं । समाज का प्रत्येक व्यक्ति पुत्र की उत्पत्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था । पुत्र के लिए वैदिक शब्द वीर (लैटिन वीरुस) है जो अवान्तर काल में शौर्य मंडित व्यक्ति के अर्थ में आने लगा ।

ऋग्वेद के काल में वर्ण-व्यवस्था विद्यमान थी या नहीं ? इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । अधिकांश पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के नाम तथा काम की व्यवस्था तथा परिबृंहण ब्राह्मणयुग की ही महती देन है । ऋग्वेद के काल में ये वर्ण विद्यमान न थे।

पुरुषसूक्त के 10वें मंत्र में चारों वर्णों की उत्पत्ति पुरुष के भिन्न-भिन्न अंगों से बतलाई गयी है । ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य तथा शूद्र का इसी क्रम से उल्लेख यहाँ मिलता है; परन्तु यह दशम मण्डल का सूक्त है; जो सर्वथा अर्वाचीन स्वीकृत किया जाता है। ये कतिपय पश्चिमी विद्वानों की मान्यताएँ हैं । ऋग्वेदीय समाज में किसी प्रकार की जटिलता. न थी । फलतः इन वर्णों का उदय सम्भव नहीं हुआ था । परन्तु समाज में जटिलता के साथ-साथ वर्णों के कार्य-कलापों में भी भिन्नता तथा विविधता का जन्म हुआ। प्राचीन सरल याग नाना दिन स्थायी अनुष्ठानों के रूप में परिणत हुआ; जिसके लिए ब्राह्मणों का एक स्वतंत्र वर्ण ही अलग हो गया ।

आचार्यों के जनाधिपों का अनेक शत्रुओं से सामना करने वाला अवसर आया जिससे सामरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्षत्रियों की जाति वंशानुगत हो गयी । विशः या वैश्यों का प्रधान कार्य था कृषि कार्य, वे भी धीरे-धीरे समाज के कार्यों के निष्पादन के लिए पीछे वंशानुगत हुए ।

ये विचार सामान्यतया मान्य हैं, परन्तु विशेषतः भ्रान्त हैं। ऋग्वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय (राजन्य) तथा वैश्य (विशः) तीनों की स्थिति वंशानुगत मानी गयी थी। ऋषि के सन्तान ही पुरोहित का काम करते थे तथा क्षत्रिय ही राजकार्य का निर्वाह करते थे और यह नाम वंशानुगत ही हो गया था । वैश्य कृषिकर्म का जात्या सम्पादन करते थे । ऋग्वेद के समय में ही वर्ण व्यवस्था उन विशिष्टताओं से मण्डित हो चुकी थी, जिसका परिग्रहण पिछले युग में हुआ है[1] ।

---

1 वैदिकसाहित्य का इतिहास पृष्ठ - 420

वैदिक आर्य लोगों का समाज कृषिबल समाज था; जो एक निश्चित स्थान पर अपनी बस्तियाँ बनाकर पशुपालन तथा कृषिकर्म में सतत निरत रहता था । आर्य लोगों का जीवन अधिकतर ग्राम्य था, परन्तु नागरिक जीवन की सत्ता के प्रमाणों की भी कमी नहीं है । वेदों में ग्रामों तथा जंगलों में और वहां उगने वाले पौधों तथा रहने वाले जानवरों में परस्पर विभेद दिखलाया गया है। देशभर में ग्राम्य फैले हुए थे; कुछ ग्राम के नजदीक होते, कुछ दूर; परन्तु वे आपस में सड़कों (रथ्या) के द्वारा जुड़े रहते थे । रथ्या का अभिप्राय पगडण्डियों से नहीं, सड़कों से है । सड़कें माललदी गाड़ियों तथा रथों के आवागमन के लिए बहुत चौड़ी हुआ करती थीं । गाँव में केवल मनुष्य ही नहीं रहते बल्कि गाय, बैल, भैंस बकरी तथा भेड़ों के झुण्ड और रखवाली करने वाले कुत्ते भी रहते थे । कृषिबल समाज होने के कारण आर्यों की जीविका का प्रधान साधन कृषिकर्म तथा पशुपालन था । सबेरा होते ही गाएँ शाला (गोशाला) से चारागाह (गोष्ठ) में चरने के लिए गोपाल की संरक्षकता में भेज दी जाती थी । वहाँ वे दिन भर चरती रहतीं, दोपहर से कुछ पहले उनका दूध दुहा जाता था। (संगव) सायंकाल के समय वे गाँव में लौटती थीं । गायों के दुहने का काम गृहपति की पुत्री के जिम्में रहता था । जो इसी कारण दुहिता (दुहने वाली) कहलाती थी । सायंकाल में अपने दुधमुहों बछड़ों के लिए धेनुओं का रँभाना वैदिक आर्यों के कानों में इतना सुखद प्रतीत होता था कि उन्होंने इन्द्र के बुलाने के लिए प्रयुक्त अपनी प्रार्थनामय वाणी की इनसे तुलना की है । जब सायंकाल बछड़े रस्सियों से खोल दिए जाते और वे अपनी माताओं के पास दौड़ जाते थे, तब वैदिक गृहपति की दुहिता

अपने कोमल हाँथों से गृहस्थी के लिए दूध दुहती थी, और घरघों-घरघों की आवाज से वह शाला गूँज उठती थी । तब उस वैदिक काल में सुलभ सर्वाधिक मनोरम दृश्य की स्मृति आज भी हमारे शरीर को पुलकित कर देती है ।

दशकुमारचरितम् में भी वैदिक समाज को अपनाने का उल्लेख प्राप्त होता है । एंक समय काम-मंञ्जरी पहले किसी जैन सन्यासी बने बिरूपक के पास एकान्त में पहुँचकर उनसे लूटी गयी सारी संपत्तियाँ उसे लौटाकर, विनय पूर्वक उसे मनाकर, प्रत्यावर्तित हुई, वह भी मुश्किल से जैन संन्यासी के सिद्धान्त से हटाई गई जान लेकर खुशी-खुशी वैदिक धर्म स्वीकार कर लिया । तदन्तर काममञ्जरी ने चर्मरत्न दुहने की इच्छा से कुछ ही दिनों के अन्दर अपनी वह उन्नति कर ली और सब कुछ दान में दे दिया । काममंजरी लालच की अति से लोभमंजरी के नाम से समाज की निन्दा पात्र थी जो आज लापरवाही से सब कुछ दान कर रही है ।

तेष्वेव दिवसेषुविधिना कल्पोक्तेन चर्मरत्नं दोग्धुकामा काममञ्जरी पूर्व दुग्धं अपणीभूतं विरूपकं रहस्युपसृत्य ततोऽपहृतं सर्वमर्थजातं तस्मै प्रत्यर्प्य सप्रश्रयं च प्रत्यागमत् । सोऽपि कथंचिन्निग्रन्थिकगृहान्मे चितात्मा मदनुशिष्टो हृष्टतमः स्वधर्ममेव प्रत्यपद्यता काममञ्जर्यपि कतिपयैरेवाहोभिरश्मन्तक शेषमजिनरत्न दोहाशयास्वयमभ्युदयमकरोत् । अर्थमत्प्रयुक्तो धनमित्रः पार्थिवं मित्रो व्यज्ञापयत देव ! येयं गणिका काममञ्जरी लोभोत्कर्षाल्लोभमञ्जरीति लोकोपक्रोशपात्रमासीत् । साद्य मुसलोलूखलान्यपि निरपेक्षं त्यजति ।

तत्कालीन समाज में ब्रह्महत्या को दोषयुक्त माना जाता था। पूर्वपीठिका के द्वितीय उच्छ्वास में ब्रह्मराक्षस की कथा आती है । जब राजवाहन घूमने के लिए निकलता है ; तो उसे एक किरातरूपधारी पुरुष दिखाई देता है और वह कहने लगता है - निश्चय ही यह तेजस्वी पुरुष साधारण मनुष्य मात्र नहीं है । अपितु अवश्य ही कोई तेजस्वी पुरुष है । ऐसा मानते हुए वह पुरुष राजवाहन के मित्रों से उसके नाम और कुल के बारे में जानकर उससे अपना वृत्तान्त बताते हुए बोला हे राजकुमार! इस वन में अपने को ब्राह्मण कहने वाले बहुत से ऐसे अधम ब्राह्मण निवास करते हैं, जो (ब्राह्मणोचित) वेदादि विद्याभ्यास का परित्याग कर, अपने कुलाचारों को छोड़कर, सत्य, पवित्रता आदि धर्म समूहों (धर्मानुष्ठानों) का त्याग कर पापाचरण में रत होकर किरातों के अधीन रहते हुए उन्हीं का अन्न खाते हैं । उन्हीं में से किसी का पुत्र निन्दनीय चरित्र वाला मातङ्ग नामधारी किरातों की सेना के साथ जनपदों में जाकर गाँवों से पुत्र कलत्रादि के साथ धनिकों को इस जंगल से लाकर, उन्हें बन्दी बनाकर, उनके समस्त धन का अपहरण करते हुए (छीनते हुए) उद्धत एवं निर्दय होकर विचरण करता था । एक बार किसी दुर्गम वन में अपने ही सहयोगियों द्वारा मारे जाते हुए एक ब्राह्मण को देखकर चिंतित होकर मैंने कहा - अरे पापियों! ब्राह्मण की हत्या नहीं करनी चाहिए । (यह सुनकर) क्रोध से लाल-लाल आँखों वाले उन लोगों ने अनेक प्रकार से मेरी भर्त्सना करते हुए मुझे बहुत डाँटा । उनकी कठोर भर्त्सना को सहन करने में असमर्थ होकर, मैं उस ब्राह्मण की रक्षा के लिए बहुत देर तक उनसे लड़ता हुआ उन लोगों के द्वारा प्रताड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त हो गया ।

इस तरह यहाँ कहा जा सकता है कि ब्रह्महत्या को बचाने के लिए उस किरात ने अपनी जान तक गवाँ दी । कहने का अभिप्राय यह है कि तत्कालीन समाज का आदर्श श्रेष्ठताओं से परिपूर्ण रहा ।[1]

'तेजोमयोऽयं मानुषमात्रपौरुषो नूनं न भवति' इति मत्वा स पुरुषस्तद्वयस्यमुखान्नामजनने विज्ञाय तस्मै निजवृत्तान्तमकथयत् । 'राजनन्दन, केचिदस्यामटव्यां वेदादिविद्याभ्यासमपहाय निजकुलाचारं दूरीकृत्य सत्यशौचादिधर्मव्रातं परिहृत्य किल्बिषमन्विष्यन्तः पुलिन्दपुरोगमास्तदन्नमुपभुञ्जाना बहवो ब्राह्मणब्रुवा निवसन्ति । तेषु कस्यचित्पुत्रो निन्दा पात्रचारित्रो मातंगो नामाह सह किरातबलेन जनपदं प्रविश्य ग्रामेषु धनिनः स्त्रीबालसहितानानीयाटव्यां बन्धने निधाय तेषां सकलधनमपहरन्नुद्धृत्य जिघांस्यमानं भूसुरमेकमवलोक्य दयायत्तचित्तोऽब्रुवम् ननु पापा;, न हन्तव्यो ब्राह्मणः इति । ते रोषारुणनयना मां बहुधा निर्भर्त्सयन् । तेषां भाषणपारुष्यमसहिष्णुरहमवनिसुररक्षणाय चिरं प्रयुध्य तैरभिहतो गतजीवितोऽभवम्[2] ।

जब अर्थपाल राजवाहन का अन्वेषण करते हुए काशी नगरी में पहुँचता है, तो वहाँ उससे पूर्णभद्र की भेंट होती है। पूर्णभद्र भी पिता के द्वारा प्रयत्न पूर्वक पाला-पोषा गया होने पर दैव के बस होकर चोरी से जीविका चलाने वाला बना । इसके बाद काशी नगर में ही एक श्रेष्ठ वैश्य के घर चोरी कर, चुराए गए माल के साथ एक दिन पकड़ा गया । प्रधानमंत्री के आदेशानुसार उसे चोरी करने के अपराध में मृत्युविजय नामक मस्त हाथी को

आदेशित किया गया कि वह डण्डे के समान सूँड का घेरा बनाता हुआ उसे नष्ट कर दे। आदेश प्राप्त कर वह पूर्णभद्र के ऊपर प्रहार करना शुरु कर देता है[1] । यहाँ भी एक आदर्श राजा का आदर्श निर्णय अवलाकनीय है।

'महाभाग, सोऽहमस्मि पूर्वेषुकामचरः पूर्णभद्रो नाम गृहपतिपुत्रः। प्रयत्नसंवर्धितोऽपि पित्रा दैवच्छन्दानुवर्ती चौर्यवृत्तिरासम् । अथास्यां काशीपुर्यामर्यवर्यस्य कस्यचिद्गृहे चोरयित्वा रूपाभिग्राहितो बद्धः । वध्ये च मयिमत्तहस्तीमृत्युविजयो नाम हिंसाविहारीराजगोपुरोपरितलाधिरूढस्य पश्यतः कामपालनाम्न उत्तमामात्यस्य शासनाज्जनकण्ठरवद्वि- गुणितघण्टारवो मण्डलितहस्तकाण्ड समभ्यधावत् ।

इसी तरह मित्रगुप्त की जीवन कथा आदर्श के रूप में दृष्टिगोचर होती है । जब वह अपनी जीवन गाथा का गान करने लगता है ; तो राजकुमार राजवाहन से कहता है कि हे राजन् ! भ्रमण करते हुए मैने दामलिप्त नामक नगर में एक उपवन देखा ; जहाँ पर मेला लगा हुआ था । वहाँकहीं माधवी लताकुँज में वीणा वादन से अपने दिल का भार हल्का करते हुए, किसी व्याकुल नौजवान को देखा और पूँछा, सौम्य! इस उत्सव का नाम क्या है? किस लिए शुरू किया गया है? और किस कारण उत्सव की उपेक्षा कर आप व्याकुल से एकान्त में वीणा के साथ ठहरे हैं ? वह बोला सौम्य, सुह्म नरेश तुंगधन्वा निःसन्तान हैं । इस देव मंदिर में विन्ध्यपर्वत के निवास का आचरण भूल कर रह रही विन्ध्यवासिनी दुर्गा के चरणों में उन्होंने दो संतानों की प्रार्थना

1 दशकुमारचरित चतुर्थ उच्छ्वास पृष्ठ 113-114

की थी और अनशन पर बैठ गए थे । कहते हैं (देवी) उनसे नींद में कहा कि तुम्हारे एक लड़का और एक लड़की पैदा होगी । वह (लड़का) उसके पति पर आश्रित रहेगा । वह सातवें वर्ष से लेकर व्याह तक हर महीने कृत्तिका नक्षत्र में गुणवान पति पाने के लिए कन्दुक नृत्य के द्वारा मेरी आराधना करे । वह जिसके प्रति आसक्त हो उससे व्याह कर देना । उस उत्सव का नाम कन्दुकोत्सव हो । फिर थोड़े समय के अन्दर राजा की प्यारी रानी मेदिनी ने एक पुत्र को जन्म दिया । एक पुत्री भी पैदा हुई । उस कन्या का नाम कन्दुकावती है । वह आज सोमापीड (जिसके ललाट का आभूषण चन्द्रमा है) दुर्गा देवी को कन्दुक नृत्य से प्रसन्न करेगी ।

देव सोऽहमपि सुहृत्साधारणभ्रमणकारणः सुह्मेषुदामलिप्ताह्व-नगरस्य वाह्योद्याने महान्तमुत्सवसमाजमालोकयम् । तत्र क्वचिदति-मुक्तकलतामण्डपे कमपि वीणावादेनात्मानं विनोदयन्तमुत्कण्ठितं युवानमद्राक्षम् अप्राक्षं च – 'भद्र को नामायमुत्सवः ? किमर्थं वा समारब्धः ? केन वा निमित्ते-नोत्सवमनादृत्यैकान्ते भवानुत्कण्ठित इव परिवादिनीद्वितीयस्तिष्ठति ? इति । सोऽभ्यधत्त – 'सौम्य सुह्मपतिस्तुङ्गधन्वा नामानपत्यः प्रार्थितवानमुष्मिन्नायतने विस्मृतविन्ध्यवासरागं वसन्त्या विन्ध्यवासिन्याः पादमूलानपत्यद्वयम् । अनया च किलास्मै प्रतिशयिताय स्वप्ने समादिष्टम् – 'समुत्पत्स्यते तवैकः पुत्रः, जनिष्यते चैका दुहिता । स तु तस्याः पाणिग्राहकमनुजीविष्यति । सा तु सप्तमाद्वर्षादारभ्याऽऽपरिणय-नात्प्रतिमासं कृत्तिकासु कन्दुकनृत्येन गुणवद्भर्तृलाभाय मां समाराधयतु यं चाभिलषेत्सामुष्मै देया । स चोत्सवः कन्दुकोत्सवनामास्तु' इति। ततोऽल्पीयसा कालेन राज्ञः प्रियमहिषी मेदिनी नामैकं पुत्रमसूत ।

समुत्पन्ना चैका दुहिता । साद्य कन्या कन्दुकावती नाम सोमापीडा देवी कन्दुकविहारेणाराधयितुमागमिष्यति[1] ।

यहाँ पर आदर्श का प्राकट्य होता है । क्योंकि विन्ध्यवासिनी के चरणों में सब सन्तानों की प्रार्थना की जाती है तब विन्ध्यवासिनी निद्रा में आकर सोये हुए को वरदान करती हुई दिखाई देती हैं । आदर्श की छटा बिखर जाती है । सन्तान प्राप्ति के पश्चात् कन्दुकनृत्य से देवी को प्रसन्न किया जाता है । क्योंकि देवी की प्रसन्नता ही मानव का कल्याण है । भारतवर्ष एक अखण्ड राष्ट्र है । इस विस्तृत देश के नाना प्रान्तों में भाषा तथा स्थानीय वेषभूषा की इतनी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है कि बाह्यदृष्टि से देखने वालों को विश्वास नहीं होता कि देश में समरसता का साम्राज्य है । अखण्डता का बोलबाला है । परन्तु बाहरी आवरण को हटाकर निखरने वालों की दृष्टि में इसकी सांस्कृतिक एकता तथा अभिन्नता का परिचय पद-पद पर मिलता है। आचार्य दण्डी भारतीय संस्कृति के हृदय थे । उनके काव्य में हमारी सभ्यता झलकती है । उनकी वाणी राष्ट्रीय भाव तथा भावना से ओतप्रोत है । इतिहास साक्षी है; इसी महाकवि ने आज से डेढ़ ~~हजार~~ सौ वर्ष पहले, जब भारत पाश्चात्य जगत् के संपर्क में आया ; तब इस देश के सरस हृदय, कोमल वाणी तथा उदात्त भावना का प्रथम परिचय पाश्चात्य संसार को दिया । आज भी हम इस महाकवि की वाणी से स्फूर्ति तथा प्रेरणा पाकर अपने समाज को सुधार सकते हैं तथा अपना वैयक्तिक कल्याण सम्पन्न कर सकते हैं । यही है आदर्श कवि के द्वारा आदर्श राजा के चरित की स्थापना करना ।

(2) व्यवहार :-

व्यवहार की दृष्टि से दशकुमारचरितम् आढ्य है । सप्तम उच्छ्वास में मन्त्रगुप्त ने राजवाहन से कहा कि हे राजन् ! जब आपका अन्वेषण करते हुए मैं कलिंग देश पहुँचा तो वहाँ पर नगर से कुछ दूर स्थित शमसान घाट से लगे हुए एक दुर्गम मार्गवती वृक्ष के नीचे बैठ गया । वहाँ एक सिद्ध, नगर के लोगों को बहुत परेशान करता था । उसने एक बार अपने दास को आज्ञा दी, जाओ कलिंग के राजा कर्दन की कन्या कनक-लेखा को कन्यांतःपुर से यहाँ लाओ । उसने वैसा ही किया । उसके बाद अत्यधिक डर, आँसुओं से गद्‌गद् गला तथा उत्सुकता से विवश हृदय लेकर, 'हाय पिता, हाय माँ' कहकर विलाप करती हुई; उसका बिखरी और म्लान शिर-माला वाला और शिथिल बंधन-युक्त केश समूह पकड़कर पत्थर पर तेज की गई पशु मारने वाली छूरी से सिर काटने की इच्छा से प्रयत्नशील हो गया । तब फुर्ती से उसके हाँथ से वह छूरी छीन कर मैंने उसका जटा-समूह युक्त सिर काटकर निकटवर्ती किसी पुराने वृक्ष के तने के खोखले भाग में डाल दिया। यह देखकर वह राक्षस (दास) अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

गच्छ कलिंगराजस्य कर्दनस्य कन्यां कनलेखां गृहादिहानय इति। स च तथाकार्षीत् । ततश्च तां त्रासेनालघीयसास्रजजरेण च कण्ठेन रणरणिकागृहीतेन च हृदयेन 'हा तात, हा जननि' इति क्रन्दन्तीं कीर्णग्लानशेखरस्रजिशीर्णनहने शिरसिजानां संचये निगृह्यासिनाशिलाशितेन शिरश्चिकर्तिषयाचेष्टत । झटिति चाच्छिद्य तस्य हूस्तात्तां शस्त्रिकां तया निकृत्य तस्य तच्छिरः सजटाजालम् निकटस्थस्य

कस्यचिज्जीर्णसालस्य स्कन्धरन्ध्रे न्यधिषि । तन्निध्याय हृष्टतरः स राक्षसः।[1]

व्यवहार की दृष्टि से दण्डी का दशकुमारचिरत कमजोर पक्ष वाला है, क्योंकि यहाँ पर एक अबला के ऊपर निर्दयता पूर्वक बार करना किसी सिद्ध के लिए शोभा नहीं देता है । यह संयोग है कि मंत्रगुप्त वहाँ पर उपस्थित था और उसने कनकलेखा की जान बचायी । पराधीन वह दास भी उस सिद्ध तापस के दुष्कृत्य से व्यथित था । परन्तु कुछ न कर सकने के कारण आज्ञा पालक भी बना रहा । [आज मंत्रगुप्त के द्वारा उस सिद्ध तापस के दुष्कृत्य से व्यथित था । परन्तु कुछ न कर सकने के कारण आज्ञा पालक भी बना रहा] । आज मंत्रगुप्त के द्वारा उस सिद्ध की हत्या कर दिये जाने पर उस दास के प्रसन्नता की सीमा नहीं है ।

प्रसन्नता से युक्त होकर वह कहता है, महोदय इस नीच मालिक के उत्पीड़न से कभी आँखों में नीद नहीं आती । गाली देता है, धमकता है और अनुचित कार्य करने का आदेश देता है। अतः इस विषय में मंगल-राशि (आप) ने बहुत अच्छा किया जो इस नीच आदमी का नरक की यातनाओं को स्वाद जानने के लिए यमराज के नगर (नरक) पहुँचा दिया है । (अतः इस विषय में) दया-निधान और असीम तेज वाले आपकी किसी आज्ञा का पालन करना चाहता हूँ । यह दास मन्त्रगुप्त के ऊपर प्रसन्न होकर उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर है । आज

---

1 दशकुमारचरितम् षष्ठोच्छ्वास पृ. 166-167

उस सिद्ध तापस के अधिपत्य से विमुक्त होने पर परम आह्लाद का अनुभव करता है।

व्यवहार का दुर्बल पक्ष दशकुमारचरित के द्वितीय उच्छ्वास में भी दिखाई देता है । जब अपहारवर्मा राजकुमार की खोज के लिए निकलता है, तब प्रथमतः अंग देश में गंगा के किनारे चम्पा शहर के पास स्थित मरीचि नामक महर्षि के आश्रम के पास पहुँचता है। अलौकिक दृष्टि जीतकर उनके दर्शनार्थ, उस आश्रम में प्रविष्ट होता है किन्तु धन्य है दण्डी के व्यवहार पक्ष की दुर्बलता? ? महर्षि मरीचि के आश्रम में काममञ्जरी की करतूत को देखा जा सकता है । उसने वहाँ पहुँच कर, अपना बिखरा हुआ केशपास बिछाकर, उन्हें प्रणाम किया । महर्षि मरीच ने व्याकुलता-पूर्वक उसके दुःख का कारण पूँछा । तब वह कपटी हृदय से किन्तु गौरवान्वित होकर बोली, हे भगवान् ! संसार के सुख के पारलौकिक कल्याण के लिए दुःखी जनों के ऊपर कृपा करने के लिए प्रविष्ट आपके चरणतल की शरण में आयी है।

किन्तु वह वेश्या किसी के द्वारा सौन्दर्य में पराजित की गयी थी और उस यह कहा गया था कि तुम यदि मरीचि को प्रसन्न कर लेती हो तभी तुम्हारे सौन्दर्य की सार्थकता है अन्यथा नहीं । इसीलिए वह महर्षि के बार-बार कहे जाने पर कि हे कल्याणि ! जंगल में रहना दुःखदायक है, फिर भी यह उन्हीं के आश्रम में उनकी सेवा करती हुई रहने लगी। एक बार अपने ऊपर महर्षि को अनुरक्त देखकर वह कहने लगी हे मुनिवर ! निश्चय ही धर्म, अर्थ और काम की उत्पत्ति का अभाव ही होता है। इसलिए काम के बिना धर्म धारण करना परमावश्यक है । अब यहाँ

देखने योग्य यह है कि संसार के उपदेष्टा महर्षि मरीचि को ही वह काममञ्जरी उल्टा उपदेश देने लगी और उसका उपदेश महर्षि के तेज को दबा देने वाला हो गया है । यहाँ तक कि उत्तेजित अनुराग प्रवृत्ति वाले ऋषिवर ने कहा -

अरी बिलासिनि ! ठीक विचार कर रही हो । तत्त्वदर्शियों के विषय-भोग से धर्म को बाधा नहीं पहुँचती । पर एक कठिनाई है। जन्म से ही मैं अर्थ और काम की चर्चा से अपरिचित हूँ । जानना है कि इनका स्वरूप क्या है ? इनके अंग कौन-कौन से हैं ? और इनका फल क्या है ? वह बोली-अर्थ का विषय है कमाना (धन) बढ़ाना और (धन) रक्षा । इसके अंग हैं, खेती, पशुपालन, वाणिज्य संधि, विग्रह (लड़ाई) आदि । इसक फल है, योग्य व्यक्ति को दान देना । काम - सांसारिक विषयों में अत्यन्त आसक्त चित्तवाले स्त्री पुरुष का अतीत सुखकारी उत्कृष्ट स्पर्श; इसके अंग इस संसार के सभी रमणीय और उज्ज्वल पदार्थ हैं, और फल प्रत्यक्ष और केवल स्वानुभूत लक्ष्य सुख है । उस सुख में परम आह्लाद रहता है । वह एक दूसरे के (आलिंगनादि) घर्षण से उत्पन्न होता है । वह व्यवहार की बात ही दूसरी । इससे अभिमान को बढ़ावा मिलता है। इससे बढ़कर उत्तम वस्तु कोई नहीं हैं। उसी के लिए विशिष्ट पदों या तीर्थादि स्थानों के लोग कष्ट कर तप, महान् दान, दारुण युद्ध और भयंकर समुद्र पार-गमन आदि आचरण करते हैं।

'अयि विलासिनि, साधु पश्यसि न धर्मस्तत्त्वदर्शिनां विषयोपभोगेनोपरुध्यत इति । किं तु जन्मनः प्रभृत्यर्थकामवार्तानभिज्ञा वयम् । ज्ञेयौ चेमौ किंरूपौ किंपरिवारौ किंफलौ च' इति। सा

त्ववादीत् अर्थस्तावदर्जनवर्धनरक्षणात्मकः, कृषिपाशुपाल्यवाणिज्य-संधिविग्रहादिपरिवारः तीर्थप्रतिपादनफलश्च । कामस्तु विषयातिसक्तचेतसोः स्त्रीपुंसयोर्निरतिशयसुखस्पर्शविशेषः। परिवारस्त्वस्य यावदिह रम्यमुज्ज्वलं च। फलं पुनः परमाह्लादनम्, परस्परविमर्दजन्म, स्मर्यमाणामधुरम्, उदीरिताभिमानमनुत्तमम्, सुखमपरोक्षं स्वसंवेद्यमेव। तस्यैव कृते विशिष्टस्थानवर्तिनः कष्टानि तपांसि, महान्ति दानानि, दारुणानि युद्धानि, भीमानि समुद्रलङ्घनादीनि च नराः समाचरन्ति इति। [1]

इतना कहकर काममञ्जरी यह जान जाती है कि अब ये हमारे ऊपर पूर्णरूप से आसक्त हैं।

तब उसने दूसरे दिन कामोत्सवहोगा, यह बात नगर में फैला दी और महर्षि मारीचि को सजाकर-नगर में भ्रमण कराया। यह देखकर एक महिला ने अञ्जलि बाँधकर कहा महाराज ! मैं इससे 'हार गयी । यह बात सुनते ही काममञ्जरी महर्षि मरीचि से बोली श्रीमान् ! मैं हाँथ जोड़ती हूँ, चिरकाल तक अपने दास पर कृपा की है । अब आप अपना काम देखिए । यह सुनकर ऋषि उद्भ्रान्त हो गए और बोले कि तुममें यह वैराग्य कहाँ से आ गया। मेरे प्रति जो तुम्हारा असाधारण प्रेम था वह कहाँ चला गया? इस प्रकार कहने पर भी महर्षि मरीचि को वह त्याग देती है और वे ऋषि पश्चात्ताप कर अपने आश्रम के प्रति लौट जाते हैं । यहाँ पर दण्डी के द्वारा व्यवहार'पक्ष का निदर्शन बहुत ही दुर्बल दिखाई देता है । आश्रम में रहने वाले ऋषि को एक

---

1 दशकुमारचिरत द्वितीय उच्छवास

वेश्या द्वारा छला जाना कहाँ तक उचित है । इसीलिए मृच्छकटिक में कहा गया है कि -

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतोः
विश्वासयन्ति पुरुषं न च विश्वसन्ति ।[1]

अपहारवर्मा की कहानी यहीं पर समाप्त नहीं होती। जब वह और आगे बढ़ता है तो उसे एक जैन भिक्षु मिलता है । जैन भिक्षु के पास पहुँचकर पूँछता है कि कहाँ तपस्या ? और कहाँ विलाप ? यदि गोपनीय बात न हो तो, शोक का कारण जानना चाहता हूँ । यह सुनकर उस जैन भिक्षु ने कहा हे सौम्य ! सुनो मैं इसी चम्पा में निधिपालित नामक सेठ का बड़ा बेटा बसुपालित हूँ । कुरूपता के कारण विरूपक नाम से मेरी ख्याति हो गयी । यहाँ सुन्दरक नामक एक दूसरा व्यक्ति था । उसका नाम यथार्थ था । वह कला-गुणों से भरपूर, पर धन से बहुत पुष्ट नहीं था। शहर में लड़ाई कराकर जीविका चलाने वाले बदमाशों ने उसके शरीर और मेरे धन को कारण बनाकर शत्रुता पैदा की । एक बार उत्सव समाज में उन लोगों ने स्वयं उत्पन्न कराये गए परस्पर अपमान के कारण को तिरस्कार की वाणी का सम्पर्क करते हुए, शांत करके व्यवस्था दी कि शरीर या धन पुरुषत्व के कारण नहीं, बल्कि श्रेष्ठ वेश्या जिसके यौवन को स्पृहणीय माने वही पुरुष है । अतः युवतियों में अलंकार स्वरूप काममञ्जरी दोनों में जिसे पसंद करे, वही सौभाग्यशाली होने का झण्डा गाड़ देगा। यह स्वीकार कर हम दोनों ने उसको लाने के लिए दूर भेजे । मैं ही उसके कामोन्माद का कारण ठहरा ।

बैठे हुए हम दोनों में से मेरे ही पास पहुँचकर उसने नील-कमल-मध्य-सा कटाक्ष दाम (गुँथे फूल का डोरा जिसके छोर को जोड़कर माला बनाते हैं) मेरे शरीर पर डालते हुए, उस व्यक्ति (सुन्दरक) का मुख लज्जा से नीचा कर दिया। अपने को सुंदर लगाने वाले मैंने उसे अपने धन, अपने घर, अपने स्वजन-समूह, अपने शरीर और अपने प्राणों का स्वामिनी बना दिया और इसने मेरे ऊपर केवल लंगोटी छोड़ी । उसके द्वारा सारा धन हर लेने के बाद निकाला गया, लोगों के उपहास का लक्ष्य बनकर, नगर के श्रेष्ठ जनों के धिक्कार सहने में असमर्थ होकर, मैंने इस जैन-मंदिर में एक मुनि के द्वारा मोक्ष मार्ग का उपदेश पाकर, 'यह भेष वेश्यालय से निकले व्यक्ति के लिए धारण करना आसान है' यह सोचकर अधिक वैराग्य से युक्त होकर वह लँगोटी भी छोड़ दी ।

'सौम्य, श्रूयताम् ! अहमस्यामेव चम्पायां निधिपालितनाम्नः श्रेष्ठिनो ज्येष्ठसूनुर्वसुपालितो नाम । वैरूप्यात्तु मम विरूपक इति प्रसिद्धिरासीत् । अन्यश्चात्र सुन्दरक इति यथार्थनामा कलागुणैः समृद्धो वसुना नातिपुष्टोऽभवत् । तस्य च मम च वपुर्वसुनी निमित्तीकृत्य वैरं वैरोपजीविभिः पौरधूर्तैरुदपाद्यत । त एव कदाचिदावयोरुत्सवसमाजे स्वयमुत्पादितमन्योन्यावमानमूल-मधिक्षेपवचनव्यतिकरमुपशमय्य 'न वपुर्वसु वा पुंस्त्वमूलम्, अपि तु प्रकृष्टगणिकाप्रार्थ्ययौवनो हि यः स पुमान् । अतो युवतिललामभूता काममञ्जरी यं वा कामयते स हरतु सुभगपताकाम्' इति व्यवास्थापयन् । अभ्युपेत्यावां प्राहिणुव तस्यै दूतान्। अहमेव किलामुष्याः स्मरोन्मादहेतुरासम् । आसीनयोश्चावयोर्ममिवोपगम्य सा नीलोत्पलमयमिवापाङ्गदामाङ्गे मम मुञ्चन्ती तं जनमपत्रपयाधोमुखं

व्यधत्त। सुभगमन्येन च मया स्वधनस्य स्वगृहस्य स्वगणस्य स्वदेहस्य स्वजीवितस्य च सैवेश्वरीकृता । कृतश्चाहमनया मलमल्लकशेषः । 'हृतसर्वस्वतया चापवाहितः प्रपद्य लोकोपहासलक्ष्यतामक्षमश्च सोढुं धिक्कृतानि पौरवृद्धानामिह जैनायतने मुनिनैकेनोपदिष्टमोक्षवर्त्मा सुकर एव वेषो वेशनिर्गतानामित्युदीर्णवैराग्यस्तदपि कौपीनमजहाम्।''[1]

इस प्रकार काममञ्जरी के द्वारा जैन भिक्षु को ठगा जाना सामाजिक पक्ष की दुर्बला रही है । न जाने इस प्रकार की कितनी घटनाएँ दशकुमारचरितम् में वर्णित हैं। वह जेनभिक्षु नगर का धनाढ्य व्यक्ति था, परन्तु सर्वस्व लूट लेने के बाद वह वेश्या उसे धता बता देती है। और पुनः किसी दूसरे को छलनेकी योजना बनाती है। अतः यहाँ सर्वमान्य सिद्ध है कि इस प्रकार की दुर्बलताएँ तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण करती हैं।

दण्डी ने तत्कालीन समाज को अपनी पैनी दृष्टि से देखा था। इसलिए तत्कालीन समाज का व्यंग्य और विनोद से भरा यथार्थ चित्रण विशेष हृदयावर्जक है । समाज के शोभन पक्ष की अपेक्षा अशोभन पक्ष का भी रम्य चित्र प्रस्तुत कर दण्डी ने अपने चित्रण में जान फूँक दी है । दम्भी, तपस्वी, कपटी, तथा हठी वेश्याओं का चित्रण इतनी रुचिरता तथा यथार्थता के साथ किया गया है कि उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पाठकों के हृदय पर पड़ती है । अपहारवर्मा के प्रसंग में काममञ्जरी नामक वेश्या मरीचि नामक तापस को कितनी विदग्धता तथा बहादुरी से ठगती है, यह देखने का विषय है । इस कथा में दण्डी ने तापसों के दम्भ तथा अभिमान पर खूब ही फबतियाँ कसी हैं । नारी हृदय

---

1 दशकुमारचरितम् द्वितीय उच्छ्वास पृ. 32-33

की परख दण्डी को खूब ही थी । कहीं पतिवंचक क्रूरहृदया नारी का जघन्य चित्र है; तो कहीं पतिप्राणा पतिव्रता के कोमल हृदय की कमजोर झाँकी है । धूमिनी स्त्री हृदय की क्रूरता का जघन्य प्रतीक है, तो गोमिनी पतिप्राणा सती गेहिनी की उज्ज्वल मूर्ति है। धूमिनी जैसी क्रूरहृदया नारी के चित्रण के लिए आलोचक दण्डी का सर्वथा ऋणी रहेगा ।

इन कथानकों में कौतुक और विस्मय-जनक घटनाओं की प्रचुरता के कारण, यहाँ अद्भुत रस का प्रभूत संचार है । दण्डी नाना विद्याओं तथा शास्त्रों के पारङ्गत पण्डित प्रतीत होते हैं । इसलिए राजनीति का अन्तरङ्ग वर्णन, कामशास्त्र के गूढ़ तथ्यों का प्रकटीकरण तथा चौरशास्त्र की अद्भुत बातें, पाठकों को दण्डी के व्यापक तथा विचित्र पाण्डित्य का परिचय देती हैं। तथ्य यह है कि पल्लव नरेशों की छत्रछाया में रहने पर भी दण्डी दरबारी जीवन से कोसों दूर हैं । वे जनता के कवि हैं; और इसलिए उनके गद्य काव्य में जनता के हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, आनन्द-वेदना का परिस्फुरण पर्याप्त मात्रा में हुआ है । सप्तम शतक में भारतीय जनसाधरण के खेल-कूद, आमोद-प्रमोद, आचार-विचार की जानकारी के लिए दशकुमारचरित का परिशीलन नितान्त उपयोगी और उपादेय है।

इस प्रकार आचार्य दण्डी का सामाजिक पक्ष कहीं सबल तो कहीं दुर्बल दिखाई देता है । यद्यपि यह बात सत्य है कि तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण आचार्य दण्डी ने विधिवत् किया है । कहीं चोरी का वर्णन, कहीं जुआँ खेलना, कहीं कपट करना, कहीं आश्चर्य जनक घटनाएँ घटना, आकाश से पृथ्वी पर

राक्षस का गिरना आदि घटनाएँ तत्कालीन समाज के यथार्थता को प्रदर्शित करती हैं । ऐन्द्रजालिक के द्वारा राजा को इन्द्रजाल का खेल दिखाना और राजा का उसमें मुग्ध होना इत्यादि घटनाएँ सामाजिक पक्ष की निर्बलता को प्रदर्शित करती हैं।

******

पञ्चम अध्याय

आलोच्य ग्रन्थ में आर्थिक पक्ष का विश्लेषण

आर्थिक दृष्टि से अध्ययन करने के लिए संक्षेप में हमें पुरातन काल की ओर जाना पड़ेगा । उस समय कैसी मुद्रा थीं? उनका क्या मूल्य था? आदि जानकारी के लिए प्राचीन काल की ओर चलते हैं । प्राचीन भारत में मुद्रा-प्रचलन का प्रारम्भ कब से हुआ? यह कहना कठिन है । तथापि इतना कहा जा सकता है, कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी भारत में मुद्रा का उल्लेख मिलता है । ऋग्वेद में एक स्थल पर सौ निष्क एवं सौ अश्व उपहार में देने का उल्लेख मिलता है । संभवतः . कई निष्कों को डोरी में पिरोकर गले में पहनने का आभूषण ग्रामीण स्त्रियाँ पहनती थी। इसके अतिरिक्त ऋण देने की प्रणाली भी उस समय प्रचलित थी; जिससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि किसी न किसी प्रकार का सिक्का उस समय अवश्य प्रचलित रहा होगा । यद्यपि खुदाई में कहीं भी ऐसा कोई सिक्का नहीं मिलता; जिसे वैदिक काल में मुद्रा-प्रचलन का पुष्ट प्रमाण कहा जा सके । तथापि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उस समय मुद्रा-प्रणाली अवश्य रही होगी ।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में कार्षापण, निष्क, पण, पाद, माष तथा शोण आदि सिक्कों का उल्लेख पाया जाता है । इतना ही नहीं यह भी संकेत मिलते हैं कि ये सिक्के ढले होते थे और इन पर राज्य-मुद्राएँ अंकित रहती थीं । ये सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के रहे होंगे ऐसा अनुमान किया जा सकता है ।

मनुस्मृति में मुद्राओं के विषय में और भी अधिक जानकारी प्राप्त होती है । इस समय सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के प्रचलित थे । मनुस्मृति में अस्सी कृष्णानल के 'सुवर्ण' नामक सोने के सिक्के का उल्लेख हुआ है । चाँदी के तीन सिक्के प्रचलित थे । मनृस्मृति में इन सिक्कों का नाम भी दिया गया है । रौप्यमाष नामक चाँदी का सिक्का दो कृष्णानल का होता था और धरण एवं शतमान नाम के सिक्के क्रम से एक माषके और दश धरण के बराबर होते थे । ताँबे का सिक्का कार्षापण होता था जो भार में सोने के सिक्के 'सुवर्ण' के बराबर होता था, यह संक्षेप में पण कहलाता था । सबसे छोटा सिक्का पण के आठवें भाग का होता था । अर्द्धपण, पादपण एवं पादार्द्धपण क्रमशः पण के आधे, चौथाई एवं आठवें भाग के सिक्कों के नाम थे । सेवक की दैनिक मजदूरी एक से लेकर छः पण तक होती थी । सोने, चाँदी और ताँबे का सापेक्ष मान क्या था? यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु एक स्थान पर 6 स्वर्ण निष्कों को 100 पणों से

अधिक मूल्यवान बताया गया है । विष्णुस्मृति में कुछ और सिक्कों के नाम मिलते हैं । जैसे यव, अक्षार्ध आदि । इसके अतिरिक्त सिक्कों का सापेक्षिक मान भी बताया गया है जो निम्न प्रकार है-

3	यव	= 1	कृष्णानल	
5	कृष्णानल	= 1	माष	
12	माष	= 1	अक्षार्द्ध	
1	अक्षार्द्ध	= 1	सुवर्ण	तथा 4 माष
4	सुवर्ण	= 1	निष्क	

नारद स्मृति में भी दो बार "दीनार" शब्द का उल्लेख हुआ है । एक स्थान पर इसका प्रयोग एक आभूषण के रूप में किया गया है तथा दूसरे स्थान पर सिक्के के रूप में । इस स्मृति का समय प्रथम से तृतीय शताब्दी तक माना गया है । इस स्मृति में अन्य स्मृतिकारों द्वारा मान्य पण, कार्षापण सिक्कों का भी उल्लेख मिलता है ।

सिकन्दर और तदनन्तर उसके सेनापति सिल्यूकस के आक्रमण के समय भी भारत में कुछ सिक्के प्रचलित थे । लोगों का अनुमान है कि ये सिक्के फारस से लाये गये थे । भारत पर आक्रमण करने के पूर्व सिकन्दर ने फारस पर विजय प्राप्त कर ली थी । यही कारण है कि वहाँ के सिक्के, यहाँ पर भी आये । यत्र-तत्र खुदाई करने पर फारस के ये सिक्के प्राप्त हुये

हैं । फारस का सोने का सिक्का डेरिक कहलाता था; जो तौल में एक सौ तीस ग्रेन का था । ऐसा मनुमान किया ही जा सकता है; कि सोने के अतिरिक्त चाँदी आदि के सिक्के भी रहे होंगे ।

बौद्ध-ग्रन्थों में काहापण (कार्षापण), निक्ख (निष्क) तथा सुवण्ण (सुवर्ण) आदि सिक्कों का कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है । इनके अतिरिक्त कंस, पाद, माषक, काकणिका आदि सिक्कों का वर्णन भी मिलता है, जो काँसे और ताँबे के बने थे । गुप्तकाल में क्रय-विक्रय के लिये कौड़ियों का भी प्रचलन था ।

मुद्रा का आकार-शुरू-शुरू में जब 'धातुखण्ड' का प्रयोग विनिमय-कार्य में प्रचलित हुआ तब उसका कोई आकार निश्चित न था । धातु (ताँबे या चाँदी) की पतली सिल्लियों को ठोंक-पीट कर बराबर वजन के टुकड़ों के रूप में काट लिया जाता था । इस कार्य में धातु-खण्ड की आकृति कभी चार, कभी पाँच और कभी छः कोनों की बन जाती थी । ये कई कोनों के सिक्के, भारत में ग्रीक लोगों के आने से पूर्व तक प्रचलित थे । आज मुद्राशास्त्र में इन सिक्कों का पारिभाषिक नाम 'पंचमार्क' है । ग्रीक सम्राट् मिनाण्डर के आक्रमण के बाद; ईस्वी पूर्व दूसरी शती के मध्य से, इस देश में गोलाकार सिक्कों का प्रचलन आरम्भ हो गया ।

द्रव्य - अन्य धातुओं की अपेक्षा ताँबे का प्रयोग प्राचीनतम् है । अतः मुद्रा के लिये भी सर्वप्रथम उसका प्रयोग हुआ होगा । पर, आश्चर्य है, प्राचीनतम वाङ्मय ऋग्वेद में ताँबे के सिक्के का उल्लेख नहीं है, और दूसरी यह भी कम समस्या नहीं है कि ऋग्वेद में जिस सोने क़े 'निष्क' सिक्के का उल्लेख हुआ है; उसका एक भी नमूना आज तक प्राप्त नहीं हुआ । इसीलिये महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने अपना अभिमत व्यक्त किया है; कि कुषाण राजाओं से पहले हमारे यहाँ सिर्फ ताँबे और चाँदी के सिक्के चलते थे । उनके अनुसार ''ईस्वी सन् के आरम्भ में कुषाण राजा वीम कदफिस ने पहले-पहल हमारे देश में सोने का सिक्का चलाया । दुनिया में सबसे पुराना सोने का सिक्का दिरिक्र था, जिसे बुद्ध के समकालीन ईरान के बादशाल दायरबहु (दारा) ने चलाया था । सोने के सिक्के में ही उसने पहल नहीं की थी, बल्कि राजा के चेहरे के साथ मुद्रा का आरम्भ भी उसी ने किया । इसका अनुकरण ग्रीक राजाओं ने किया, जहाँ से [illegible] ग्रीकों ने उसे प्रयुक्त किया । पाणिनि ने जिन आहत मुद्राओं का उल्लेख अष्टाध्यायी में किया है, उन पर भी विशेष चिन्ह और सम्भवतः कभी-कभी रूप अंकित होता था । सिक्कों में चाँदी का प्रयोग भी कम पुराना नहीं है । शतपथ ब्राह्मण में चाँदी के सिक्कों का उल्लेख मिलता है । सात-वाहनों के शासनकाल में

सीसा और राँगा के भी सिक्के ढाले गये, पर उनका प्रचार अधिक दिनों तक न रह सका । इस तरह प्राचीनकाल में आर्थिक सिक्के आदि एवं उनका मूल्य आदि आर्थिक स्थिति की सामान्य जानकारी हो जाने के पश्चात् शोधग्रन्थ के आर्थिक पक्ष का विवरण प्रस्तुत करना समीचीन प्रतीत होता है ।

(क) राजवर्ग :-

तत्कालीन समय का आर्थिक जीवन बहुत ही अच्छा कहा जा सकता है । क्योंकि राजवंश इतने आढ्य थे कि उनकी समस्त आढ्यता का वर्णन करना असम्भव सा है । राजवर्ग समस्त भौतिक सुख-सुविधा का उपयोग पूरे मन से करते थे । वस्तुतः भौतिकसुख का पर्याप्त साधन उस समय नहीं था, परन्तु जो उस समय का उपयोगी साधक और सुलभ साधन था, उसका उपयोग पूरा राजकुल करता था । युद्ध में विजय प्राप्त करने में भी आढ्यता सहायक होती है । यदि युद्धोपकरण की समुचित व्यवस्था न हो तो शायद पराजय ही हाथ लगेगी । हाँ, इतना अवश्य था कि भौतिकता के दौर में आध्यात्मिकता को तत्कालीन समाज नहीं भूलता था । राजा राजहंस का आर्थिक पक्ष यदि देखा जाय तो, वह भी परिपूर्ण दिखाई देता है । राजा राजहंस स्वसम्पत्ति से अमरावती को जीतने (तिरस्कृत करने) वाली पुष्पपुरी

में निवास करते हुए, शेषनाग के फणों से धारण की हुई पृथ्वी की भाँति अनेक सुख सामग्रियों से पालित, रानी 'वसुमती' के साथ आनन्द का उपभोग करते थे[1] -

"विजितामरपुरे पुष्पपुरे निवसता सानन्तभोगलालिता वसुमती वसुमतीव मगधराजेन यथासुखमन्वभावि ।"

राजकुल में आय के विभिन्न साधन थे । जिनमें प्रमुखरूप से जनता के द्वारा प्राप्त कर ही रहा करता था । दूसरा उपाय यह भी था कि जब कोई राजा किसी राजकुल को पराजित कर, उसके राज्य में अपना वर्चस्व कायम कर लेता था; तो उसे सहसा ही अपार सम्पत्ति सम्प्राप्त हो जाती थी । युद्ध करना राजाओं का परम कर्त्तव्य था । इसी कारण कभी विजय और कभी पराजय का सामना करना पड़ता था । आय के साधन में से कृषि और व्यापार को भी नहीं हटाया जा सकता है । व्यापार करने के लिए लोग दूरदेश जाते थे और प्रभूत सम्पत्ति लेकर ही प्रत्यावर्तित होते थे । रत्नोद्भव जो कि महाराजा राजहंस का परम मन्त्री था, वह भी व्यापार करने के लिए दूरदेश चला गया और इतना दूर कि समुद्र को पार कर लिया - "रत्नोद्भवोऽपि वाणिज्य निपुणतया पारावारतरणमकरोत् ।[2]" इस तरह से यह कहा

1. दशकुमारचरितम् पूर्वपीठिका प्रथम उच्छ्वास पृष्ठ–7–8

2. दशकुमारचरितम् पूर्वपीठिका पृ0 –91

जा सकता है कि उस समय धनागम के कईस्रोत थे; जिनके माध्यम से सम्पत्तिशाली कहलाने का हक राजवर्ग को था ।

उस समय में केवल धन ही (चल-अचल सम्पत्ति) आढ्यता के लिए पर्याप्त नहीं था । वस्तुतः प्राचीनकाल में केवल धन को ही महत्व नहीं दिया जाता था, बल्कि उस रूप में चाहे जो धन हो उसे ही स्वीकार किया जाता था । पशुधन राजवंश के समय बहुत ही महत्वपूर्ण होता था । मानसकार तुलसी बाबा ने तो बहुत से धन एक साथ ही वर्णित कर दिये हैं, जिसमें पशुधन को प्रथमतः उल्लिखित करके उसके माहात्म्य को प्रदर्शित किया

इधर राजा राजहंस भी उक्त पशुधन से प्रभूत सम्पन्न है । जब मालव नरेश के ऊपर चढ़ाई करने के लिए उनकी इच्छा जागृत हुई, तब वे चतुरंगिणी सेना सजाकर ही उनके ऊपर धावा बोलने के लिए प्रस्थित होते हैं । उनकी सेनाओं में हाँथी, घोड़े आदि सभी सम्मिलित थे-"चतुरंगबलेन संयुतः सङ्ग्रामाभिलाषेण रोषेण महताविष्टो निर्ययौ ।"[1] इस तरह असन्दिग्धरूपेण कहा जा सकता है कि प्रभूत धन सम्पन्न राजवंश था ।

---

1. दशकुमारचरितम् पूर्वपीठिका पृ0 –10

महाराज राजहंस की तरह ही दशकुमारचरितम् में वर्णित अन्यराजवंश का भी आर्थिक पक्ष सुदृढ़ था । मालवाधिपति मानसार भी जब युद्ध के लिए चलते है, तो उनके साथ अनेक हाथियों से संज्ञित सेनाएँ चलती हैं । यह आर्थिक पक्ष के सबलता का ही प्रमाण है ।

वास्तविक वैभव तो तभी समझ में आ जाता है जब आचार्य दण्डी पुष्पपुरी का अलौकिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं । उनका कथन है कि संसार की सारी महत्त्वपूर्ण नगरियों की परख करने की कसौटी में जो सर्वश्रेष्ठ है, असंख्य दुकानों में फैलाकर रखे हुए मणियों आदि के द्वारा रत्नाकर के रत्नों के माहात्म्य को प्रकाशित करने में जो समर्थ है, ऐसी नगरी अन्यत्र कहाँ दृष्टिगोचर होगी -

"अस्ति समस्तनगरीनिकषायमाणा शश्वदगण्य-पण्यविस्तारित-मणिगणादि- वस्तुजात व्याख्यातरत्नाकरमाहात्म्या मगधदेश शेखरीभूता पुष्पपुरी नाम नगरी ।"[1]

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि प्रभूत धन सम्पन्नता के वर्णन से ही; इस काव्य का प्रारम्भ होता है । जिसका

---

1. दशकुमारचरितम् पूर्वपीठिका प्रथम उच्छ्वास–पृष्ठ 2–3

प्रादुर्भाव ही धन सम्पन्नता में हुआ; उसके आर्थिक पक्ष के सुदृढ़ होने में सन्देह कहाँ ?

लाटदेशाधिपति के पास भी अतुल वैभव का उल्लेख किया गया है । उनके भवन में कभी घुसकर चोर बहुत सारी सम्पत्तियाँ अपने लिए ले गए । ले जाते समय कहीं पर एक रत्नखण्ड गिर गया; जिसे सोमदत्त प्राप्तकर किसी वृद्ध ब्राह्मण को दे देता है । कदाचित् वह ब्राह्मण पकड़ लिया जाता है और चौरकर्म का फर्दाफाश हो जाता है । राजा वीरकेतु और मानपाल के मध्य चतुरङ्गिणी सेना की सहायता से युद्ध प्रारम्भ होता है । यहाँ भी वैभव का वर्णन सम्प्राप्त होता है । जब युद्ध परिणाम को प्राप्त होता है; तब वामलोचना के साथ सोमदत्त का परिणय हो जाता है और उसे श्वसुरपुर की समस्त सम्पत्ति उपभोग के लिए सम्प्राप्त हो जाती है -

"ततो यौवराज्याभिषिक्तोऽहमनुदिनमाराधितमहीपालचित्तो वामलोचन- याऽनया सह नानाविधं सौख्यमनुभवन्भवद्विरहवेदनाशल्यसुलभवैकल्यहृदयः सिद्धादेशेन सुहृज्जनावलोकनफलं प्रदेशं महाकालनिवासिनः परमेश्वरस्याराधनायाद्य पत्नीसमेतः समागतोऽस्मि ।"[1]

1. दशकुमारचरितम् पूर्वपीठिका तृतीय उच्छ्वास–पृष्ठ 76

(ख) कुलीनवर्ग :-

कुलीनवर्ग के अन्तर्गत याज्ञिक, पुरोहित, ऋषि, मन्त्री, मन्त्रिपुत्र और श्रेष्ठी आदि जनों को रखा जा सकता है । इनमें से कुछ लोग राजाश्रित होने के कारण प्रभूत सम्पन्नता में जीवन निर्वहन करने वाले हैं, परन्तु कुछ कुलीनता का भार वहन करने के कारण सदाचार की रक्षा में तत्पर हैं । वास्तव में कुलीनवर्ग वह है जो जीवन को सदाचार के पथ पर अग्रसर करता हुआ, परम कल्याण साधन में निरत रहता है; महर्षि जाबालि हों अथवा ऋषिवर वामदेव । ये सभी मोक्षमार्ग के कपाट को अनावृत करने के साधन है; जिनका महत्व प्रत्येक प्राणी, विशेषकर मानव को है ।

श्रेष्ठिजन आर्थिक दृष्टि से सबल होते हैं । इसीलिए मन्त्रिपुत्र जैसे कुलीन लोग भी उनका अनुसरण करने में तत्पर रहते हैं । कालयवन द्वीप जैसे स्थान में भी धनिकों की अल्पता नहीं है । वहाँ भी कालगुप्त नामक धनिक वैश्य रहा करते हैं । सर्वसुविधा सम्पन्न वातावरण में जनमी उनकी नयनाभिराम कन्या सुवृत्ता मन्त्रिपुत्र रत्नोद्भव के भौतिक नेत्रों से ओझल नहीं हो सकी । रत्नोद्भव भी विरासत से प्राप्त परम्परा में दक्ष था । गुण , नीति , शील , आदि सद्गुण तो उसका कभी पीछा

ही नहीं छोंड़ते । शक्तिवान् होने के कारण ही उसे सुवृत्ता जैसी शीलवती कन्या ने वरण किया और आनन्द के साथ जीवन-यापन करते हुए शेष समय विताते हैं ।

व्यापार की कुशलता ही रत्नोद्भव को लाभमार्ग प्रशस्त करती है । "रत्नं रत्नेन सह संगच्छते" के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह (रत्नोद्भव) स्वयं अर्थप्रधान व्यक्ति था और भी उसे उसकी कुशलता ने दे ही डाला । उसके श्वसुर प्रभावित होकर प्रभूत सम्पत्ति प्रदान करके जामाता को सम्मानित करते हैं - "सुवस्तुसंपदा श्वसुरेण सम्मानितोऽभूत् ।"

ऋषिवर वामदेव सभी कलाओं में प्रवीण, स्वरूप में कामदेव जी को मात देने वाले, शौर्य से कार्तिकेय का उपहास करने वाले हैं । क्या यह यशधन-धन नहीं है ? अर्थात् आर्थिक दृष्टि के अतिरिक्त भी जो धन हैं; उनसे भी धनी व्यक्ति धनाढ्य की ही श्रेणी में आता है । ऋषिवर वामदेव जी सदाचार और सन्मार्ग के मार्ग को प्रशस्त करने वाले हैं । उन्हीं की आज्ञा मानकर राजा राजवाहन को उनके मित्रों सहित दिग्विजय यात्रा पर भेजने के लिए सहमत हो जाते हैं । क्योंकि 'सज्जनों की वाणी हमेशा शुभफलदायी होती है ।' सज्जनों का सज्जनों के साथ सम्पर्क भी कभी पुण्य के उदय होने पर ही होता है -

सतां सद्भिः संगः कथमपि हि पुण्येन भवति ।। (उत्तररामचरितम्)

नगर निवासी धनमित्र के पास एक ऐसा चर्मरत्न था, जो लोगों की निगाहों से कभी-किसी भी समय नहीं हटता था । काममञ्जरी वेश्या को वश में करने के लिए उसे चुराकर देने का वादा तक किया जाता है । यदि काममञ्जरी प्रसन्न हो जाती है तो रागमञ्जरी बड़ी सहजता से उपलब्ध हो जायगी । यहां पर वह चर्मरत्न (भाथी) इतना बहुमूल्य है कि उसका अंत में चोरों ने सफाया ही कर दिया । हां इतना अवश्य था कि उसके माध्यम से व्यक्ति को सन्तुष्ट अवश्य किया गया ।

आचार्य दण्डी धनिकों के साथ-साथ मध्यमवर्ग के लोगों के चरित्रवर्णन में भी पटु दृष्टिगोचर होते हैं । महाकवि दण्डी दया, परोपकार, सहिष्णुता, चंचलता आदि गुणों से युक्त पात्रों का चयन करके सामाजिक और आर्थिक दशा को सुदृढ़ करने का सफल लेखन किया हैं । मन्त्रिपुत्र विश्रुत, राजवाहन के खोज में जब निकलते हैं; तो देखते हैं कि किसी कुँए के पास कोई बालक रुदन कर रहा है । तत्काल उसकी सहायता करने के लिए पहुँच जाते हैं और प्रथमतः सहायता करते हैं; पश्चात् परिचय पूँछते हैं । अतः यह कहा जा सकता है कि महाकवि दण्डी के पात्र उदारचेता थे ।

यह धन का ही कमाल है कि इन्द्रपालित के पुत्र चन्द्रपालित चित्रकारों और गुप्तवेषधारी अनेक नौकरों के साथ गुप्तचरों से घिरा हुआ पहुँचकर अनेक प्रकार की क्रीडाओं से विहारभद्र को वस में कर लेता है । उसके साथ मिलाप करके राजा के बीच अपना एक सुदृढ़ स्थान बना लिया । अंत में धनागम के स्रोत को जानकर मैत्री भंग कर लेता है और धनप्राप्ति के व्यसन में संलग्न होता है - "अमुना चैव संक्रमेण राजन्यास्पदमलभत ।"

अर्थागम के लिए नित्य नूतन मार्ग का अन्वेषणकर दशकुमारचरितम् के पात्र उसी में संलग्न हो जाते थे । कुलीनवर्ग के अन्तर्गत जिन पात्रों को रखा गया है उनमें से अधिकतर मंत्रियों के पुत्र ही हैं, जो राजाश्रित होने के कारण वैभव सम्पन्न थे । वास्तव में सांसारिक जीवन यापन करने के लिए धन की महती आवश्कयता होती है और यदि उसका अभाव हुआ तो जीवन की सरसता, माधुर्य सब कुछ नष्ट हो जाता है । जीवन को प्रसन्नता के साथ जीने में ही उसका महत्त्व है । धनोपार्जन के लिए ही राजकुमार राजवाहन के साथ मन्त्रिपुत्र भी देशाटन में जाते हैं । यद्यपि परोक्षरूप में तो वह दिग्विजय यात्रा थी, परन्तु अपरोक्ष रूपेण राजाश्रित लोगों के अतिरिक्त भी जो कुलीनवर्ग में हैं; वे कहीं न कहीं से आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ हैं । अतः यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है; कि दशकुमारचरितम् के कुलीनवर्ग का आर्थिक पक्ष बहुत ही सुदृढ़ था ।

(ग) अन्यवर्ग :-

अन्यवर्ग की श्रेणी में काव्य के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों वर्गों के अतिरिक्त सभी सम्बन्धीजन (काव्य में प्रयुक्त पात्र के रूप में) आ जाते हैं । यह वर्ग भी कहीं धनवान् तो कहीं निर्धन और कहीं समरस दिखाई देता है । कभी-कभी तो इस वर्ग के वैभव को देखकर आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता है । राजवाहन के विन्ध्याटवी में पहुंचने पर प्रथम दर्शन किसी किराताधीन निवासी ब्राह्मणपुत्र का होता है । जिसे मातङ्ग के नाम से जाना जाता था । दैवयोग से वह किसी राजवंश से कम लक्ष्मीवाला पुरुष नहीं हुआ । जब उसके साथ राजवाहन पाताललोक की यात्रा पर गये तो वहां पर एक सर्वांगसुन्दरी असुरराजपुत्री कालिन्दी से मिलन होता है । वह पाताल लोक की अधिष्ठात्री है और उसने मातङ्ग को अपने करीब करने की लालसा से उससे परिणय याचना की जिसे राजकुमार राजवाहन की सम्मति पाकर स्वीकार कर लिया । रसातल की राजलक्ष्मी और कालिन्दी को स्वीकार कर प्रसन्नचित्त होकर विहार करते हुए परमानन्द को प्राप्त किया-"लोकस्यास्य राजलक्ष्मीमङ्गीकृत्य मां तत्सपत्नीं करोतु भवान् इति । मातङ्गोऽपि राजवाहनानुमत्या तां तरुणीं परिणीय

दिव्याङ्गनालाभेन हृष्टतरो रसातलराज्यमुररीकृत्य परमानन्दमाससाद ।"[1]

यहाँ पर इस किरात के वैभव को विस्फारित नेत्रों से देखते रहने पर भी तृप्ति नहीं होती है । अतः यह कहना समीचीन है कि दशकुमारचरितम् में वैभव की अल्पता किसी भी वर्ग में नहीं है ।

इस वर्ग के पास ऐसे रत्नों का भण्डार है जिसे समीप में रखने पर भूख-प्यास आदि नहीं सताती । जब राजकुमार राजवाहन रसातल के कार्य से निवृत्त हो चुका और भूतल पर आना चाहा तब मातङ्ग की परिणीता नवभार्या कालिन्दी ने भूख-प्यास नष्ट करने वाली मणि राजकुमार राजवाहन को ससम्मान अर्पित की यह वैभव रसातल में निवास करने वाले युगल का है, तो भूतलवासियों का क्या कहना ।

आचार्य दण्डी का ऐन्द्रजालिक भी वैभवसम्पन्न है । जब वह सहसा राजवाहन के सन्निकट उपस्थित होता है, तब वह रत्नों की शोभा से विशेष शोभायमान दिखाई देता है । कानों में रत्नजटित कुण्डल, शरीर में महीन एवं कीमती वस्त्र उसकी शोभा में चार चांद लगा देने वाले थे -

---

1. दशकुमारचरितम् पूर्वपीठिका पृ0 –62

तस्मिन्नवसरे धरणीसुर एकः सूक्ष्मचित्रनिवसनः स्फुरन्मणि-कुण्डलमण्डितो मुण्डितमस्तकमानवसमेतस्चतुरवेषमनोरमो यदृच्छया समागतः समन्ततो ऽभ्युल्लसत्तेजोमण्डलं राजवाहनमाशीर्वादपूर्वकं ददर्श ।''[1]

आदर्श कवि की कृति में अन्यवर्ग के लोग भी वैभव सम्पन्न हैं । धन कमाने के कई रास्ते होते हैं, जिसे जो मार्ग अच्छा लगता है, वह उसी का अनुसरण करने लगता है । अर्थपति के पास से धन चुराकर ले जाने वाले लोग भी वैभव सम्पन्न ही कहलाए । यहाँ तक कि अर्थपति के ऊपर जीर्ण वस्त्र का टुकड़ा मात्र शेष रखकर उसे सभी नगरवासियों के सामने निर्वासित कर दिया गया-''शेषो ऽर्थपतिरर्थमत्तः सर्वपौरजनसमक्षं निरवास्यत ।''

तारावली की स्थिति का यदि निरीक्षण किया जाय तो पता चलता है कि वह भी वैभव सम्पन्न नारी थी । पूर्णभद्र के विषय में कहा ही गया है कि उसका घर ही अत्यन्त विस्तीर्ण परकोटों वाला और असीमित हँथियारों की जगह है- ''वत्स, गृहमेवेदमस्मदीयमतिविशाल- प्राकारवलयमक्षय्यायुधस्थानम् ।'' यहाँ पर जो भी अन्य वर्ग के लोग हैं वे सभी आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं । पूर्णभद्र के पिता कहते हैं कि मेरे द्वारा लाभान्वित सामन्त

---

1. दशकुमारचरितम् पूर्वपीठिका पृ0 –130

बहुत अधिक हैं । अत्यधिक संख्या में जनता मेरी विपत्ति नहीं चाहती । कई हजार श्रेष्ठ सिपाही अपने, मित्रों, पुत्रों और पत्नियों के साथ हैं ही । इस प्रकार का कथन अर्थ की मजबूती को ही प्रगट करता है ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आचार्य दण्डी के द्वारा विरचित दशकुमारचरितम् में आर्थिक पक्ष कुलीन-वर्ग, राजवर्ग और अन्यवर्ग सभी सुदृढ़ था । इसी कारण किसी में द्वेष भावना ने ज्रन्म नहीं लिया । यदि किसी राज्य की आर्थिक स्थिति मजबूत होती है तो वहाँ हर तरह के विकास सम्भव होते हैं । यह राजा तथा प्रजावर्ग के मध्य सामंजस्य बनाने पर ही सम्भव हो सकता है । अतः यह ग्रन्थ समग्रता को साथ लिए, अपने पथ पर अग्रसर है । इसका अनुसरण करने वाला प्राणी भी कभी दिग्भ्रमित नहीं हो सकता और सरस जीवन बिताते हुए मनोभिलषित फल का भोक्ता बनता है ।

******

षष्ठ अध्याय
दशकुमारचरित में काव्यशास्त्रीय पक्ष

काव्यसौन्दर्य की परख करने वाले शास्त्र का नाम 'काव्यशास्त्र' है । काव्यशात्र के प्रारम्भिक युग में इसके लिए मुख्य रूप से 'काव्यालङ्कार' शब्द का प्रयोग होता था । इसीलिए काव्यशास्त्र के आदि युग के सभी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों का नाम 'काव्यालङ्कार' रखा है। भामह का कारिकारूप में लिखा हुआ काव्यशास्त्र का आदि ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नाम से ही प्रसिद्ध है । उद्भट ने भी अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' रखा है । रुद्रट के काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ का नाम भी 'काव्यालङ्कार' है । वामन ने सूत्ररूप में लिखे हुए अपने ग्रन्थ का नाम भी 'काव्यालङ्कारसंग्रह' रखा है.। इस प्रकार हम देखते है। कि प्राचीनकाल मे । 'काव्यशास्त्र' के लिए 'काव्यालङ्कार' नाम ही अधिक प्रचलित पाया जाता है। इस नाम मे आया हुआ 'काव्यशास्त्र' शब्द सौन्दर्य अर्थ का बोधन कराने वाला है । वामन ने "सौन्दर्यम् अलङ्कार:'[1]' सूत्र लिखकर अलङ्कारशब्द, को सौन्दर्यपरक प्रतिपादित किया है । अन्य सब आचार्यों ने भी काव्य के सौन्दर्याधायक धर्मों को ही 'अलङ्कार' नाम से व्यवहृत किया है- "काव्यशोभाकरान्, धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते"[2] आदि वचन भी इसी मत की पुष्टि करते हैं । इस प्रकार 'काव्यालङ्कार' शब्द का अर्थ काव्य सौन्दर्य

होता है और उससे लक्षणा द्वारा काव्यसौन्दर्यपरक शास्त्र का ग्रहण होता है । इसीलिए काव्यसौन्दर्य की परीक्षा के आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले, ये सब प्राचीन ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नाम से कहे जाते हैं। इन ग्रन्थों में केवल अलङ्कारों का ही वर्णन नहीं है; अपितु सौन्दर्य की परीक्षा के लिए गुण, दोष, रीति अलङ्कार आदि जिन-जिन तत्त्वों के ज्ञान की आवश्यकता है; उन सभी का प्रतिपादन किया गया है । इसलिए इन नामों से आये हुए 'अलङ्कार' शब्द को सौन्दर्यपरक मानकर काव्यसौन्दर्य के प्रतिपादक शास्त्रों के लिए 'काव्यालङ्कार' नाम का प्रयोग उचित प्रतीत होता है ।

बाद के अनेक स्थलों पर इस शास्त्र को 'काव्यालङ्कार' के बजाय, केवल 'अलङ्कारशास्त्र' नाम का प्रयोग ही पाया जाता है.। 'प्रतापरुद्रीय' की टीका में 'अलङ्कारशास्त्र' नाम के प्रतिपादन के लिए छत्रिन्याय' का अवलम्बन लिया गया है। उन्होंने लिखा है- 'यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं' गुण, दोष, अलङ्कार आदि अनेक विषयों का विवेचन किया गया है; परन्तु 'छत्रिन्याय' से उसे केवल अलङ्कारशास्त्र कहा जाता है । 'छत्रिन्याय' का अभिप्राय यह है कि कहीं बहुत से व्यक्ति जा रहे हैं, उनमें दो-चार छत्रधारी व्यक्तियों की प्रधानता मानकर, उनके साथ चलने वाले छत्ररहित अन्य अनेक व्यक्तियों का भी 'छत्रिणो यान्ति' आदि पदों से ग्रहण हो जाता है और व्यवहार उन दो-चार छाते वालों के कारण, उस समुदाय के अनेक छत्ररहित व्यक्तियों को भी 'वे छाते वाले जा रहे हैं' उस प्रकार कहा जाता है । इसी तरह अलङ्कारशास्त्र में अलङ्कार के अतिरिक्त रसादि अनेक विषयों का प्रतिपादन होते हुए भी

अलङ्कार को प्रधान मानकर 'अलङ्कारशास्त्र' नाम से उनका ग्रहण हो जाता है । यह 'प्रतापरुद्रीय' के टीकाकार का अभिप्राय है । अलडकारशास्त्र नाम की व्याख्या के विषय में अन्य विद्वानों का भी प्रायः यही मत है ।

परन्तु यह व्याख्या अधिक रुचिकर प्रतीत नहीं होती। इसका कारण यह है कि काव्य में अलङ्कार की प्रधानता नहीं है, वह काव्य की आत्मा नहीं है, काव्य की आत्मा तो रस है । अलङ्कार की स्थिति तो केवल कटक-कुण्डल आदि के समान गौण है । कटक-कुण्डल आदि मनुष्य के उत्कर्षाधायक धर्म तो हो सकते हैं, जीवनाधायक नहीं । कटक-कुण्डल आदि अलङ्कारों को धारण करने वाला व्यक्ति बड़ा आदमी माना जा सकता है, पर उनके हटा देने पर या उनसे रहित व्यक्ति मनुष्य न रहे यह नहीं हो सकता है । शरीर का जीवनाधायक तत्त्व आत्मा है, इसी प्रकार काव्य का जीवनाधायक तत्त्व रस है । इसीलिए रसादि के रहते उनको गौण करके और गौण अलङ्कारों को प्रधान मानकर, उनके आधार पर इस शास्त्र का 'अलङ्कारशास्त्र' यह नामकरण उचित प्रतीत नहीं होता। वामन के मतानुसार अलङ्कार शब्द को सौन्दर्यपरक मानकर अलङ्कार शास्त्र को 'सौन्दर्यशास्त्र' या 'काव्यसौन्दर्यशास्त्र' मानना अधिक सङ्गत और उचित प्रतीत होता है ।

प्रारम्भ में इस शास्त्र का नाम केवल 'काव्यालङ्कार' था। शास्त्र शब्द का प्रयोग उसके साथ नहीं होता था । आगे उसका और अधिक विकास होने पर, उसका महत्त्व बढ़ाने के लिए, उसके साथ 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग होने लगा । सामान्य रूप से 'शास्त्र' शब्द 'शासनात् शास्त्रम्' शासन करने वाला होने से

'शास्त्र' कहलाता है । शासना अर्थ मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त होने या किसी से निवृत्त होने का आदेश देते हैं; इसलिए वे 'शास्त्र' कहे जाते हैं । मुख्य रूप से शासन करने वाले अर्थात् प्रवृत्त होने का आदेश देते हैं; इसलिए वे 'शास्त्र' कहे जाते हैं । काव्य का मुख्य प्रयोजन प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं, रसास्वादन 'सद्यः परनिर्वृत्ति' है । 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश काव्य का गौण प्रयोजन है । इसलिए काव्य 'प्रभुशब्दसम्मित' वेद-शास्त्र आदि से भिन्न है । अतः 'काव्यशास्त्र' में प्रयुक्त 'शास्त्र' शासनात् शब्द 'शास्त्रं' व्युत्पत्ति को लेकर प्रयुक्त नहीं हुआ है ।

वेदान्तदर्शन में 'शास्त्र' शब्द की एक और व्युत्पत्ति की गयी है । 'शासनात् शास्त्रं' अर्थात् केवल शासन करने वाले विधि-प्रतिषेधपरक ग्रन्थ ही 'शास्त्र' नहीं कहलाते, अपितु किसी गूढ़ तत्व का 'शंसन' प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ भी 'शास्त्र' कहलाते हैं । इस व्युत्पत्ति के करने का कारण यह है कि वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय-'ब्रह्म-'प्रवृत्ति' या विधि-प्रतिषेध का विषय नहीं माना गया है । तब उसका प्रतिपादन शास्त्र में कैसे सम्भव होगा ? यह शङ्का 'ब्रह्म' के विषय में उठायी गयी है। उस शङ्का के निराकरण के लिए 'शंसनात शास्त्रं' यह दूसरे प्रकार की व्युत्पत्ति भाष्यकार ने की है । इसके अनुसार 'ब्रह्म' जैसे गूढ़ तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त आदि के लिए 'शास्त्र' शब्द के प्रयोग का और विधि-प्रतिषेधरहित 'ब्रह्म' के शास्त्रप्रतिपाद्यत्वका समर्थन किया गया है । इसलिए शासनात्मक न होने पर भी अर्थात् विधि-प्रतिषेध रहित होने पर भी किसी गूढ़ तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ 'शास्त्र' नाम से कहे गये

हैं । इसी व्युत्पत्ति को लेकर अलङ्कारशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि नामों में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग हुआ है । काव्य के साथ 'शास्त्र' शब्द का सम्बन्ध जुड़ जाने से उसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया । प्राचीन नाम 'काव्यालङ्कार' में उतना महत्त्व प्रतीत नहीं होता है जितना 'काव्यशास्त्र या अलङ्कारशास्त्र' नामों में प्रतीत होता है ।

ग्यारहवीं शताब्दी में 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रचयिता भोजदेव ने मुख्य रूप से इस शास्त्र के लिए 'काव्यशास्त्र' पद का प्रयोग किया है । उन्होंने लिखा है-

'यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम् ।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।।"[1]

इसका अर्थ यह है, कि विधि या निषेध का ज्ञान कराने वाला अर्थात् शासन करने वाला 'शास्त्र' है; उसका अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि उसी से लोक व्यवहार का संचालन होता है । इस विधि और प्रतिषेध का ज्ञान कराने वाले मुख्य तीन साधन हैं- (1) काव्य, (2) शास्त्र तथा (3) इतिहास। इन तीनों के मिश्रण से तीन और बन जाते हैं - (1) काव्य और शास्त्र को मिलाकर काव्यशास्त्र, (2) काव्य और इतिहास को मिलाकर काव्येतिहास, (3) शास्त्र और इतिहास को मिलाकर शास्त्रेतिहास। इस प्रकार भोजदेव के मत में विधि और प्रतिषेध की व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञान के कारण छः हो जाते हैं- (1) काव्य, (2) शास्त्र, (3) इतिहास, (4) काव्यशास्त्र, (5) काव्येतिहास, (6) शास्त्रेतिहास। इनका प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है-

---

1. **सरस्वतीकण्ठाभरण 2-138**

'काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च ।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदिहापि षड्विधम् ।।'[1]

इस प्रकार भोजदेव ने काव्य, काव्यशास्त्र और काव्येतिहास तीनों को विधि-प्रतिषेध का ज्ञान कराने वाला माना है । इस प्रकार उन्होंने काव्य के सब प्रयोजनों में से 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' अर्थात् विधि प्रतिषेध को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है । पर यह वस्तुतः बहुजनसमादृत पक्ष नहीं है । अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में उपदेश काव्य का मुख्य प्रयोजन नहीं गौण प्रयोजन है। उसकी अपेक्षा 'सद्यः परनिर्वृति'-अलौकिकानन्दानुभूति या रसास्वादन ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है । भोजदेव के ध्यान में 'शास्त्र' शब्द की कदाचित् 'शासनात् शास्त्र'' वाली एक ही व्युत्पत्ति थी इसीलिए उन्होंने काव्यशास्त्र में भी शासन की प्रधानता मान ली है । पर ऐसा करके उन्होंने कदाचित् काव्य के साथ न्याय नहीं किया है। काव्य का प्रधान उद्देश्य शासन नहीं है; अन्यथा वेद, शास्त्रादि से उसका भेद ही क्या रह जायगा ? काव्य का प्रधान लक्ष्य 'सद्यः परिनिर्वृति' अर्थात् अपूर्व आनन्दानुभूति या रसास्वादन ही है । यही उसका वेद, शास्त्र आदि से विभेदक मुख्य धर्म है । भोजदेव इस तत्त्व की रक्षा नहीं कर सकें हैं । 'काव्य' के साथ 'शास्त्र' शब्द जोड़कर उन्होंने उसकी गौरववृद्धि करने का यत्न तो किया है, पर उस यत्न में काव्य के आत्मा को भूल गये हैं । 'शासनात् शास्त्रम्' के स्थान पर यदि 'शंसनात् शास्त्रं' इस

व्युपत्ति को लेकर शास्त्र शब्द का प्रयोग मानते तो, उससे काव्य की आत्मा भी सुरक्षित रहती और उसकी गौरववृद्धि भी होती ।

प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार वेद सब सत्य विद्याओं के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं । सब सत्य विद्याओं की उत्पत्ति और विकास वेदों से ही हुआ है; इसलिए सभी विद्याओं के मूल तत्त्वों का अनुसन्धान वेदों में किया जाता है । आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी ऋग्वेद को विश्व-साहित्य का सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं । इसीलिए अपनी अनुसन्धानप्रक्रिया में वे भी प्रत्येक विषय का बीज ऋग्वेद में खोजने का प्रयत्न करते हैं । इसी दृष्टि से साहित्यशास्त्र का वेदों से कोई सम्बन्ध नहीं । वेदाङ्गों में भी शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छः विद्याओं की गणना की गयी है, पर उनमें साहित्य का नाम नहीं आता । इसलिए वेद और वेदाङ्गों से साहित्यशास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, फिर भी ' देव के काव्य ' के रूप में वेद का ही निर्देश किया गया है और वेद के निर्माता परमात्मा के लिए वेदों में अनेक जगह 'कवि' शब्द का प्रयोग किया गया है । इसलिए वेद स्वयं काव्य रूप में और उसमें काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है । इसलिए काव्यसौन्दर्य, के निरूपक साहित्यशास्त्र में काव्य सौन्दर्य के आधायक, जिन गुण, रीति, अलङ्कार, ध्वनि आदि तत्त्वों का विवेचन किया गया है; वे सभी तत्त्व मूल रूप में वेद में पाये जाते हैं । गुणों के आधार पर ही रीतियों का निर्धारण होता है । इसलिए रीतियों के उदाहरण भी वेद में खोजे जा सकते हैं । उपमा और रूपक आदि अलङ्कारों की तो वेदों में भरमार

है । एक-एक मन्त्र में अनेक जगह रूपक और उपमा आदि का प्रयोग देखा जा सकता है-

'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं उत त्वः श्रृण्वन् न श्रृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासाः ।।[1]

की उपमा कैसी सुन्दर उपमा है । अनेक लोग विद्या पढ़ते हैं उसका रहस्य खुलता नहीं, अनेक लोग महत्त्व की बातें सुनते हैं; पर उनका भाव समझ में नहीं आता । ऐसे ही लोगों को लक्ष्य में रखकर मन्त्र में कहा गया है, 'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं।' 'त्व' अर्थात 'एके' कुछ लोग ऐसे हैं; जो देखते हुए भी वाणी के स्वरूप को नहीं देख पाते हैं और 'श्रृण्वन् अपि न श्रृणोत्येनां' सुनकर भी उसको सुन नहीं पाते हैं। ये दोनों विरोधाभास के कितने सुन्दर और प्रसादिक, प्रसादगुणयुक्त मनोहर उदाहरण हैं । तीसरे वे लोग हैं; जिनके सामने वाणी अपना सारा सौन्दर्य इस प्रकार खोलकर रख देती है । जैसे सुन्दरतम वेश-भूषा में अलङ्कृत होकर पत्नी अपने पति के सामने अपने सौन्दर्य को पूर्ण रूप में प्रदर्शित करती है । 'उतो त्व स्मै त्वन्नं विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासा' इस उपमा का यही भाव है। यह कितनी सुन्दर उपमा है । दूसरी जगह-'उषा हस्नेव निर्णोति अप्सः' में उषा हॅसती हुई-सी अपने 'अप्स' रूपाणि अर्थात् सौन्दर्य को प्रकाशित करती है; में 'हंसती हुई-सी सौन्दर्य को प्रकाशित करती है,' कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है ।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' [1] ।।

इस मन्त्र में तो दर्शनशास्त्र के मौलिक तत्वों का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु काव्य या साहित्यशास्त्र की दृष्टि से भी यह एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है । वेद के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन अनादि, अनन्त मौलिक तत्त्व हैं। ईश्वर प्रकृति के द्वारा सृष्टि की रचना करता है और जीव उस सृष्टि में अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःखरूप फलों का भोग करता है । इस एक मन्त्र में सारे दर्शनों का रहस्य समाविष्ट कर दिया गया है । पर इस जटिल दार्शनिक तत्व का निरूपण 'दिव्य काव्य' वेद में हुआ है; इसलिए वह काव्य के समान सुन्दर प्रतीत होता है । मन्त्र में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्वों को अपने नामों से न कहकर 'रूपकालङ्कार' में दो पक्षियों और एक वृक्ष के रूप में प्रदर्शित किया है। प्रकृति एक विशाल पिप्पलवृक्ष के रूप में है । ईश्वर और जीव दोनों 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' दो 'सुपर्णा' सुन्दर पंखो वाले, 'सयुजा' साथ रहने वाले और मित्ररूप पक्षी हैं । वे दोनों पक्षी 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' एक समान वृक्ष के फलों को खाता है अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार सृष्टि में सुख-दुःखरूप फलों का भोग करता है और 'अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति', दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा 'अनश्नन्' फलों का भोग न करता हुआ 'अभिचाकशीति' संसार में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। यह इस मन्त्र का भाव है ।

---

1. ऋग्वेद 10-71-4

काव्य की मनोहर भाषा में दार्शनिक तत्त्व का ऐसा सुन्दर निरूपण सारे साहित्य में कहीं और देखने को नहीं मिलता है । रूपक की कल्पना कैसी सुन्दर बनी है और उसके साथ 'सुपर्णा, सयुजा, सखाया, समानं, परिषस्वजाते' के सुन्दर अनुप्रास ने तो सोने में सुगन्ध का काम किया है । 'अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति' में नकार का अनुप्रास माधुर्य की अभिव्यञ्जना कर रहा है। 'अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति' फलका भोग न करते हुए भी अपने तेज को, सौन्दर्य को प्रकाशित कर रहा है यह विभावना अलङ्कार का सुन्दर उदाहरण है । 'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते, बिना हेतु के जहाँ कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो वहाँ विभावना' अलंकार होता है । फल का भोग या भक्षण ही दैहिक सौन्दर्य का जनक है; पर यहाँ 'अनश्नन्' न खाने पर भी 'अभिचाकशीति' सौन्दर्य के प्रकाश का उल्लेख पाया जाता है । इसलिए यह विभावना अलङ्कार का उदाहरण है । 'काव्यप्रकाश' के 'यः कौमारहरः' इत्यादि अनलङ्कृति वाले उदाहरण के खण्डन में 'साहित्यदर्पण' की अपनायी गयी प्रक्रिया के अनुसार यदि इसको उलट दिया जाय तो, यह 'विशेषोक्ति' अलङ्कार कहलाता है । यहाँ 'अनश्नन्' रूप सौन्दर्याभाव का कारण विद्यमान है; परन्तु सौन्दर्याभाव रूप कार्य विद्यमान नहीं है । क्योंकि 'अनश्नन्' रूप सौन्दर्याभाव का कारण विद्यमान है; परन्तु सौन्दर्याभाव रूप कार्य विद्यमान नहीं है । क्योंकि 'अनश्नन्' अन्यः अभिचाकशीति', न खाते हुए भी वह अपने सौन्दर्य को प्रकाशित कर रहा है । इसलिए यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है ।

इस मन्त्र में केवल रूपक, अनुप्रास, विभावना या विशेषोक्ति अलङ्कार ही नहीं पाये जाते हैं, अपितु 'सयुजा' और 'सखाया' विशेषणों से जीवात्मा और परामात्मा की नित्यता एवं सच्चिद्रूपता की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए वे पदद्योत्य ध्वनि के उदाहरण भी हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस एक ही मन्त्र में रूपक, अनुप्रास, विभावना, विशेषोक्ति चार अलङ्कारों, माधुर्य गुण और पदद्योत्य ध्वनि आदि काव्य के अनेक महत्त्वपूर्ण अङ्गों का समावेश पाया जाता है । इस प्रकार के अन्य सैकड़ों मन्त्र पाये जाते हैं; जिनमें साहित्यशास्त्र के मौलिक तत्वों का सुन्दर समावेश हुआ है । इन मन्त्रों का जितना ही अधिक आवलोकन किया जाय उतना ही उनका सौन्दर्य प्रस्फुटित होता जायगा ।

वस्तुतः उपमा अलङ्कार सारे अलङ्कारों का बीज है, इसी से वैदिक साहित्य में उसका प्रयोग पाया जाता है । निरुक्तकार ने इस उपमालङ्कार का शास्त्रीय विवेचन करने का यत्न किया है । उन्होंने तृतीय अध्याय के तृतीय पाद में अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य के मत का उल्लेख करते हुए 'उपमा' का लक्षण इस प्रकार किया है-

'यद् अतत् तत्दृशं तदासां कर्म इति गार्ग्यः'

अर्थात् जो ऊपर से भिन्न होने पर उसके सदृश हो वह इनका अर्थात् उपमा का कर्म अर्थात् विषय होता है ।

'ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा, कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते ।'

अर्थात् अधिक गुण वाले अथवा अत्यन्त प्रख्यात उपमान के साथ 'कनीयांसं' कम गुण वाले अथवा 'अप्रख्यातं' कम प्रसिद्धि

वाले उपमेय का सादृश्य उपमा में दिखलाया जाता है । यह उपमा का सामान्य लक्षण है और उत्तरवर्ती साहित्यशास्त्र में भी इसी रूप में इसको स्वीकार किया जाता है । परन्तु निरुक्तकार ने 'अथापि कनीयसा ज्यायांसम्' छोटे-से बड़े की उपमा अर्थात् न्यून गुण वाले उपमान के साथ अधिक गुण वाले उपमेय की उपमा का भी वर्णन किया है और उसके अनेक उदाहरण दिये हैं । नवीन साहित्यशास्त्र में इस प्रकार की उपमा को 'हीनोपमा' कहा जाता है और दोष की कोटि में गिना जाता है । परन्तु निरुक्तकार ने उसे दोषाधायक नहीं माना है अपितु सुन्दर उपमा का रूप ही माना है । इसका उदाहरण उन्होंने ऋग्वेद से इस प्रकार उद्धृत किया है-

'तनूत्यजेव तस्कररावनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीतां ।
इयन्ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरङ्गः ।।[1]

इस मन्त्र में आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों प्रकार के उच्च्य तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है । आध्यात्मिक दृष्टि से इसमें मनुष्य के लिए इन्द्रियसंयम का उपदेश किया गया है । 'रशनाभिर्दशभि-प्रत्यय होने पर भी श्रवण मात्र से ही उपमानसम्बन्ध की प्रतीति हो जाती है; इसलिए उसके योग में भी श्रौती उपमा होती है ।

तुल्य, समानादि उपमावाचक अन्य शब्दों की स्थिति भिन्न है । यथा, इव आदि शब्द सदा उपमान के साथ ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु तुल्य, समानादि शब्दों के विषय में यह बात नहीं

---

1. ऋग्वेद 10-4-6

हैं । वे कभी उपमान के साथ प्रयुक्त होते हैं, कभी उपमेय के साथ और कभी दोनों के साथ, जैसे- 'तेन तुल्यं मुखम्' । इस उदाहरण में 'तुल्य' शब्द का सम्बन्ध 'तेन' इस उपमेय के साथ है। उपमान के साथ नहीं और 'इदञ्च तच्च तुल्यं' इस उदाहरण में 'तुल्य' शब्द का प्रयोग 'इदं' और 'तत्' अर्थात् उपमेय और उपमान दोनों के साथ । इसलिए इन शब्दों के प्रयोग में उपमान और उपमेय की प्रतीति तुरन्त नहीं होती । विचार करने के बाद निश्चय होता है, कि यहाँ तुल्य शब्द का सम्बन्ध किसके साथ है ? इसलिए इस प्रकार के स्थलों में 'आर्थी' उपमा मानी जाती है। इन दोनों भेदों में 'तत्र तस्येव' तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः,' इन दो व्याकरण सूत्रों का उपयोग होता है । इसलिए इन उपमा भेदों के ऊपर व्याकरणशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट दिखलायी देता है । यही नहीं, इन भेदों के वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत जो भेद किये गये हैं, वे पूर्णतः व्याकरण के आधार पर ही किये गये हैं ।

'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले ।।

इस उदाहरण में 'अम्भोरूहवत्' में 'तत्र तस्येव' सूत्र से 'वति' प्रत्यय होने से तद्धितगत श्रौती उपमा है। 'कुम्भाविव' में 'इवेन नित्यसमासः विभक्त्यलोपश्च' इस नियम के अनुसार 'कुम्भ' शब्द के साथ 'इव' शब्द का नित्यसमास होने से समासगत श्रौत्री उपमा है और 'शरदिन्दुर्यथा' में वाक्यगत श्रौती उपमा है । इस प्रकार एक ही श्लोक में श्रौती उपमा के तद्धितगत, समासगत तथा वाक्यगत, तीनों भेदों के उदाहरण आ जाते हैं । इसी प्रकार-

'मधुरः सुधावदरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणि ।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः।

इस उदाहरण में 'सुधावत्' पद में 'सुधया तुल्यं सुधावत्' इस विग्रह में 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्रसे वति' प्रत्यय होने के कारण तद्धितगत आर्थी उपमा है । 'पल्लवतुल्यं' में समासगत आर्थी उपमा तथा 'मृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले' वाक्यगत आर्थी उपमा है ।

पूर्णोपमा के ये श्रौती और आर्थी भेद कुछ अंश में व्याकरण के सूत्रों से नियन्त्रित होते हैं । परन्तु लुप्तोपमा के पाँच भेद तो पूर्णरूप से व्याकरण के सूत्रों से ही नियन्त्रित होते हैं -

'अधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः'' [1]
'वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि ।। [2]

के अनुसार आधार तथा कर्म अर्थों में क्रमशः 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिक तथा उसके मूलभूत 'उपमानादाचारे' (अष्टा0 3-1-10) सूत्रसे क्यच् प्रत्यय होने पर दो प्रकार की तथा 'कर्तुः क्यङ्-सलोपश्च' (अष्टा0 3-1-11) सूत्र से क्यङ् प्रत्यय होने पर तीसरी प्रकार की एवं 'उपमाने कर्मणि' (अष्टा0 3-445) सूत्र से उपमानभूत कर्म तथा कर्ता उपपद रहते किसी धातु से 'ण्मुल्' प्रत्यय करने पर चौथी और पाँचवीं धर्मलुप्ता

---

1. सा0 द0 10-19
2. का0 प्र0, का 10, सूत्र 130

उपमा होती है । इस प्रकार धर्मलुप्ता उपमा के पाँचों भेद एकदम, व्याकरणसूत्रों से ही नियन्त्रित होते हैं । इन पाँचों भेदों के उदाहरण एक ही श्लोक में निम्नलिखित प्रकार आ जाते हैं -

'अन्तःपुरीयसि रणेषु सुतीयसि त्वं,
पौरं जनं तव सदा रमणीयते श्रीः ।
दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्दु-
सञ्चारमत्र भुवि सञ्चरसि क्षितीशः ।।'

इस उदाहरण में 'रणेषु अन्तःपुरीयसि' यह आधार अर्थ में 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिक से 'क्यच्' प्रत्यय होकर 'अन्तःपुरे इव आचरसि अन्तःपुरीयसि' रूप बनता है । 'पौरं जनं सुतीयसि' इसमें 'सुतमिव आचरसि सुतीयसि' यह रूप 'उपमानादाचारे' (अष्टा0 3-1-10) सूत्रसे क्यच् प्रत्यय करने पर बनता है । 'रमणीयते श्रीः' में 'रमणी इव आचरति' इसमें 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (अष्टा0 3-1-11) सूत्र से क्यङ् प्रत्यय होकर 'रमणीयते' रूप बनता है। 'अमृतद्युतिदर्श दृष्टः' और 'इन्दुसत्वारं संचरति' इन दोनों उदाहरणों में 'उपमाने कर्मणि च' (अष्टा0 3-4-45) सूत्रसे क्रमशः कर्म तथा कर्ता उपपद रहते 'ण्मुल्' प्रत्यय होकर यह रूप बने हैं। इस प्रकार उपमा के भेदों पर व्याकरणशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का बीज पर्याप्त रूप में पाया जाता है ।

(क) भाषा एवं शैली :-

आचार्य दण्डी की शैली बहुत ही मनोहर एवं आह्लादमयी है । अनुप्रास तथा शाब्दी क्रीड़ा का मोह दण्डी की सरल, स्वाभाविक शैली में अधिक नहीं जान पड़ता; जबकि पूर्वपीठिका के आरम्भिक वाक्य ही इस कृत्रिम शैली का संकेत दे देते हैं :-

तत्र वीरभटपटलोत्तरंगतुरंगकुञ्जरमकरभीषणसकलरिपुगणकटकजलनिधिमथनमन्दरायमाणसमुद्दण्डभुजदण्डमण्डलःपुरन्दरपुराङ्गणवनविहरणपरायणतरुणगणिकागणैर्गीयमानयाऽतिमानया शरदिन्दुकुन्दघनसारनीहारहारमृणालमरालसुरगजनीरक्षीरगिरिशाट्टाहासकलासकाशनीकाशमूर्त्या, रचितदिगन्तरालपूर्त्या कीर्त्याऽभितः सुरभितः स्वर्लोकसिखरोरुरुचिररत्नरत्नाकरवेलामेखलायितधरणीरमणीसौभाग्यभोगभाग्यवान्, अनवरतयागदक्षिणारक्षितशिष्टविशिष्टविद्यासम्भारभासुरभूसुरनिकरः, विरचितारातिसन्तापेन प्रतापेन सतततुलितवियन्मध्यहंसः राजहंसो नाम घनदर्पकंदर्पसौन्दर्य सोदर्यहृद्य निरवद्यरूपो भूपो बभूव । तस्य वसुमती नाम सुमतिः लीलावतीकुलशेखरमणी रमणी बभूव[1] ।

उस पुष्पपुरी नामक नगरी में राजहंस नामक राजा था । उस राजा के समुद्दण्ड (प्रबल) भुजदण्ड शत्रुओं के सेनारूपी समुद्र का मन्थन करने में मन्दराचल के समान थे, उस सेनारूपी समुद्र के जिसमें पदाति-सेना की उत्ताल तरंगे उठ रही हों और जो हाथी तथा घोड़ों के भीषण जल जन्तुओं से भयानक हो रहा हो, वह राजा उस कीर्ति की सुगन्ध से सुरभित था, जो शरत् ऋतु के चन्द्रमा, कुन्दपुष्प, कर्पूर, तुषार, मुक्ताहार, मृणाल, हंस, ऐरावत, दुग्ध, शिवजी का अट्टहास, कैलाश या काशपुष्प के

समान धवल है- जिसे इन्द्र की पुरी में वह बिहार करती हुई यौवनवती अप्सराएँ बार-बार गाया करती हैं तथा जो समस्त दिशाओं के अन्तराल में व्याप्त है । वह राजहंस समस्त पृथ्वीरूपी रमणी के सौभाग्य का उपयोग करने वाला था । उस धरणी-रमणी का, जो सुमेरु पर्वत की चोटियों जितने बड़े-बड़े रत्नों से परिपूर्ण रत्नाकर (समुद्र) की मेखला से विस्तृत है। उसने अनवरत यज्ञ करके दक्षिणा के द्वारा अनेकों विद्याओं से युक्त ब्राह्मणों को आश्रय दिया था। वह आकाश के मध्य में स्थित सूर्य की भाँति, अपने प्रताप से शत्रुओं को सन्तप्त करने वाला था; तथा समृद्ध दर्पवाले कन्दर्प (कामदेव) के सौन्दर्य के समान रमणीय अनवद्य रूप से सम्पन्न था । उसी राजा की पत्नी वसुमती थी । जो सुमती (सुन्दर बुद्धिवाली) थी; तथा लीला से सम्पन्न सुन्दरियों के कुल की शेखरमणी (अग्रगण्य) रमणी थी ।[1]

उपर्युद्धृत पंक्तियों 'में एक साथ शाब्दी तथा आर्थी क्रीड़ा का संघात देखा जा सकता है । कीर्ति के एक, दो, तीन या चार उपमानों से कवि का मन नहीं भरा है । जितने उपमान उसे याद आये, वे सारे उपमान उपन्यस्त कर दिए हैं । अनुप्रासिक चमत्कार पद-पद पर देखा जा सकता है, और वसुमती-सुमती, शेखरमणी- रमणी वाली यमक की छटा भी पायी जाती है।

---

1. स्त्री की भूमिका में 'पुरुष को उपस्थित करने की [illegible] मालतीमाधव में भी पाया जाता है।

दण्डी के अपने मूल दशकुमारचरितम् में राजवाहन तथा उसके सात साथियों की कहानियाँ है । प्रथम उच्छ्वास में राजवाहन की कथा है; तथा उसके साथी उसके पास आते हैं । अपने साथियों को बड़े दिनों बाद पाकर, वह उनसे अपने अनुभवों की कथा कहने का आदेश देता है । बाकी सात उच्छ्वासों में सात कुमारों की कहानियाँ है । सबसे पहली कहानी अपहारवर्मा का चरित है; जो सबसे लम्बा और सबसे जटिल एवं मनोरञ्जक है। इस कहानी में हमारे सम्मुख अनेक विचित्र घटनाएँ और कई तरह के रोचक पात्र उपस्थित होते हैं । काममञ्जरी नामक गणिका निःसन्देह एक विचित्र पात्र है । वह तपस्वी मरीचि के आश्रम में जाकर संन्यास लेने का ढोंग रचती है और स्वयं तपस्वी को अपने कर्तव्य मार्ग से च्युत कर देती है । इसके पहले वह वस्तुपाल नामक श्रेष्ठिपुत्र को भी ठग चुकी है और बेचारा वस्तुपाल जैन साधु बनने को बाध्य किया जाता है । जैन साधु की परम्परा में ही जैन धर्म की खिल्ली भी उड़ाई गयी है । द्यूतगृह का अनुभव, चौरकर्म का वर्णन, जिसमें अपहारवर्मा के दक्षता की बात की गई है; चम्पा के कृपण श्रेष्ठियों का धन चुरा-चुरा कर उन्हें संसार की सम्पत्ति की नश्वरता का पाठ पढ़ाना आदि वर्णनों के द्वारा इस कथा में हास्य और व्यंग्य का अपूर्व विनियोजन किया गया है । अपहारवर्मा गरीबों की सहायता के लिए धनवानों की चोरी करता है, प्रेमियों को परस्पर मिलाता है तथा नीचता, दुष्टता और धोखाधड़ी के शिकार बने लोगों को फिर से सुखी बना देता है । अपहारवर्मा से अगली वाली कहानी इतनी रोचक नहीं है; पर इसमें भी घटनाओं और चरित्रों का अभाव नहीं है । नायक

चालाकी से राजा का वध कर देता है; रानी का विश्वासपात्र बनता है और मंत्रसिद्धि से रूप परिवर्तन का बहाना कर राजा बन जाता है । चौथी कहानी कुमार अर्थपाल की है; जो काशीराम के द्वारा पदच्युत पिता को पुनः मंत्री बना देता है और राजकुमारी मणिकर्णिका के प्रेम को प्राप्त करता है । इस कथा में सर्प- विष को हटाने की योजना का प्रयोग किया गया है। जहाँ नायक राजकुमारी के सर्पविष को उतार देता है । अगली कहानी प्रमति की है । नायक श्रावस्ती की राजकुमारी नवमालिका को स्वप्न में देखता है । वह स्त्री की भूमिका धारण कर अंतःपुर में जाता है और राजकुमारी से मिलता है । इसी कहानी में एक स्थान पर कुक्कुटों की लड़ाई का वर्णन किया गया है । इसके बाद छठी कहानी मित्रगुप्त की है; जो सुखदेव की राजकुमारी-कन्दुकमती को प्राप्त करता है । इस कहानी में अनेकों समुद्रों और दूर देशों की यात्रा का वर्णन है। इसी में ब्रह्मराक्षस की कथानक रूढ़ि (भोटिफ)[1] का भी प्रयोग किया गया है । एक राक्षस उससे चार प्रश्न पूँछता है ।[2] और कहता है कि अगर वह उसका उत्तर नहीं देगा तो वह उसे मार डालेगा । इन प्रश्नों के उत्तर में ही धूमिनी, गोमिनी, विम्बवती, नितम्बवती की कहानियाँ कही गयी हैं। इन सभी कहानियों का सारांश यही जान पड़ता है; कि चालाकी से ही व्यक्ति सफलता प्राप्त कर सकता है । सातवीं कहानी मन्त्रगुप्त की है; जिसमें दण्डी ने चित्रगुप्त ओष्ठ्य वर्णो का उच्चारण वहीं करते हैं।

---

1. यक्ष या ब्रम्हराक्षस के द्वारा प्रश्न पूछे जाने की कथानक रूपी बहुत पुरानी है, महाभारत में भी इस रूढ़ि का प्रयोग हुआ है यहाँ यक्ष युधिष्ठिर से प्रश्न पूँछता है।
2. किं क्रूरं स्त्रीहृदयं किं गृहिणः प्रियहितायदारगुणाः।
कः कामः संकल्पः किं दुष्करसाधनं प्रज्ञा ।।

क्योंकि प्रेयसी के रागोद्‌बोधक चुम्बनों तथा दन्तक्षतों ने उसके ओठों को विह्वल बना रखा है। इस कहानी की घटनाएँ कलिंग तथा आन्ध्रप्रदेशों में घटित होती हैं और आरम्भ में मन्त्रगुप्त एक कापालिक सिद्ध से कलिंगराज कर्दन की पुत्री कनकलेखा को बचाता है[1] । कापालिक ने उसको यक्षों के द्वारा श्मशान में मगवा लिया था और वह उसकी बलि देना चाहता था।

इस कहानी में भी मन्त्रसिद्ध के द्वारा रूप परिवर्तन वाली कथानक रूढि की योजना पायी जाती है । जिसका प्रयोग उपहारवर्मा की कहानी में भी है । अंतिम कथा विश्रुत की है जो दण्डी की अधूरी कहानी है । उत्तरपीठिका के लेखक ने इसे पूरा किया है । इस कथा में 'विश्रुत' अपने आश्रयदाता विदर्भ के राजकुमार के खोए हुए राज्य को पुनः प्राप्त करता है। वह भगवती दुर्गा की मूर्ति के रूप में स्थित होकर अपनी इष्ट सिद्धि करता है ।

कामम्ञ्जरी के द्वारा तपस्वी मारीचि और श्रेष्ठिपुत्र वस्तुपाल के ठगे जाने में गहरा व्यंग्य है । प्रथम उच्छ्‌वास में रजत श्रृंखला का अप्सरा-सुरतमञ्जरी के रूप में परिवर्तित हो जाना, पाठक को अद्‌भुत लगता है और दशकुमारचरितम्‌ की भौतिक ढंग की कहानी में यह अलौकिक समावेश कथानक को कौतूहलयुक्त बना देता है । चम्पा के कंजूस श्रेष्ठियों को उसका धन चुराचुराकर नया सबक सिखाने की अपहारवर्मा की योजना

---

1. कापालिक सिद्धों के द्वारा बलि के लिए नवयौवन कुमारियों के अपहरण के कथानक रुढ़िका प्रयोग कई कहानियों में मिलता है। भवभूति की मालवीमाधव में भी इसकी योजना पाई जाती है, जहाँ का घटित घोरघण्ट मालती को बलि देने के लिए पकड़ ले जाता है।

में गहरा हास्य है और मित्रगुप्त के द्वारा चंदसेना को ऐसा मंत्र देने के प्रस्ताव में, जिसमें आने से वह बन्दरिया से दिखाई देने लगे-हास्य और व्यंग्य की अपूर्व योजना है । चन्द्रसेना इस प्रस्ताव को ठुकरा देती है । रानी का वेश बनाकर राजा विकटवर्मा को धोखा देने की उपहारवर्मा की योजना में सुन्दर व्यंग्य है और इसका चरम रूप वहाँ मिलता है। जहाँ राजा विकटवर्मा को विश्वास दिलाने के लिए शपथ लेता है; पर रानी के रूप में स्थित अपहारवर्मा उसे झिड़कता ही रहता है।

शंकित तथा विस्मित से स्थित राजा से मैंने कहा- अग्नि देवता को साक्षी बनाकर तुम मुझसे सच-सच कहना । यदि तुम इस रूप में मेरे साथ रमण न करोगे तो मैं तुम्हारे रूप में परिवर्तन कर दूँगी । राजा ने समझा कि यह महारानी ही है और कपट की बात नहीं कही । उसने एकदम विश्वास करके शपथ लेना शुरू किया । उसे शपथ लेते देखकर मैंने हंसकर फिर कहा अरे शपथ लेना व्यर्थ है । मुझे कौन मानुषी (सौन्दर्य में) जीत सकती है । यदि तुम किन्हीं अप्सराओं के प्रति आकृष्ट हो तो इच्छानुसार संगमन करो । मुझे यह बताओ कि तुम्हारा रहस्य क्या है ? उसे कहने पर ही तुम्हारे रूप का परिर्वतन हो सकेगा। और बेचारा मूर्ख विकटवर्मा अप्सराओं के साथ संगमन का व्यंग्यार्थ नहीं समझ पाता और उसका सदा के लिए रूप परिर्वतन कर अप्सराओं के पास भेज दिया जाता है, महारानी की भूमिका में स्थिति अपहारवर्मा उसका वध कर दूत के साथ अग्नि में होम देता है ।

दशकुमारचरितम् के विषय तथा अभिव्यंजना शैली के निर्वाह में जो संतुलन पाया जाता है, वह संस्कृत के किसी गद्यकाव्य में

नहीं मिलता । दण्डी की शैली और उसका स्वर विषय के अनुरूप बदलता जाता है । द्वितीय तथा पंचम उच्छ्वास के हास्य के हल्के-फुलके वातावरण में उसका रूप दूसरा है, विश्रुत-चरित (अष्टम उच्छ्वास) के करुणा चित्र की गंभीरता को उपन्यस्त करने में दूसरा । अलग-अलग प्रसंग में अनुकूल उसकी शैली बदलती रहती है । षष्ठ उच्छ्वास की धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती तथा नितम्बवती की कहानियों की शैली अत्यधिक सरल तथा स्वाभाविक करुणा का आश्रय लेती हैं । दण्डी निश्चितरूप में भाषा के अधिपति हैं । वे सरल प्रवाहमय भाषा के सिद्ध प्रयोक्ता हैं और उनके संवाद सूक्ष्म और तात्त्विक होते हैं । दण्डी वेद की रीति के सफल कवि हैं । वैसे वर्णनों में दण्डी के भी वाक्यों में यत्र-तत्र करुणान्त शैली मिल जाती है; पर वे शाब्दी या आर्थी क्रीड़ा के फेर में अधिक नहीं फँसते । अभिव्यंजना की स्वाभाविकता और अर्थ की स्पष्टता की ओर दण्डी का खास ध्यान रहता है । कभी-कभी शाब्दी या आर्थी क्रीड़ाओं का प्रयोग किया जाता है; पर वे प्रभावोत्पादकता या अर्थ प्रतीति में बाधक नहीं होती । नखशिख वर्णन तथा प्रकृति वर्णन के लिए वाण की बहुत प्रसंशा की जाती है; पर दण्डी के ये वर्णन उस पैमाने के न होने पर भी असुन्दर नहीं हैं । द्वितीय उच्छ्वास का राजकुमारी के सौन्दर्य[1] तथा षष्ठ उच्छ्वास का गोमिनी के सौन्दर्य का वर्णन[2] अति सुन्दर है-

रक्ततलाङ्गुली यवमत्स्यकमलकलशाद्यनेकपुण्यलेखालाञ्छितौ करौ, समगुल्फसधी मांसलावशिरालौ चाङ्घ्री, जङ्घे चानुपूर्ववृत्ते, पीवरोरुग्रस्ते इव दुरुपलक्ष्ये जानुनी, सकृद्विभक्तश्चतुरस्रः ककुन्दरविभागशोभी रथाङ्गाकारसंस्थितश्च नितम्बभागः,

तनुतरमीषन्निम्नं गम्भीर नाभिमण्डलम्, वलित्रयेण चालकृतमुदरम्, उरोभागव्यापिनावुन्मग्नचूचुकौ विशालारम्भशोभिनौ पयोधरौ, धनधान्यपुत्रभूयस्त्वचिह्नलेखालाञ्छिततले स्निग्धोदग्रकोमलनखमणी ऋज्वनुपूर्ववृत्तताम्राङ्गुली संनतांसदेशे सौकुमार्यवत्यौ निमग्नपर्वसंधी च बाहुलते, तन्वी कम्बुवृत्तबन्धुरा च कंधरा, वृत्तमध्यविभक्तरागाधरम् असंक्षिप्तचारुचिबुकम् आपूर्णकठिनगण्ड- मण्डलम् संगतानुवक्रनीलस्निग्धभ्रूलतम् अनतिप्रौढतिलकुसुमसदृशनासिकम् असितधवलरक्तत्रिभागभासुरमधुराधीरसचारमन्थरायतेक्षणम् इन्दुशकञ्च-सुन्दरललाटम् इन्द्रनीलशिलाकाररम्यालकपङ्क्ति द्विगुणकुण्डलितम्लान-नालीकनाललिलितलम्बश्रवणपाशयुगलमाननकमलम्, अनतिभङ्गुरो बहुलः पर्यन्तो ऽप्यकपिलरुचिरायामवानेकैकनिसर्ग समस्निग्धनीलो गन्धग्राही च मूर्धजकलापः[1]

इसके करतल लाल हैं और उसमें यव, मत्स्य, कमल, कलश आदि अनेक समृद्धि सौभाग्य सूचक रेखाएँ हैं, इसके दोनों पैर मांस से भरे हुए हैं, उनकी नस नहीं दिखाई देती है और टंखने के जोड़ एक दूसरे से भरे होते हैं । इसकी पिंडलियाँ एक सी सुडोल हैं । कटिभाग चारों ओर से अच्छी तरह सटा है उनके बीच में ककुन्दर (नितम्बस्थित गड्ढा) है तथा वह नितम्बभाग रथ के चक्र के समान विशाल है, इसका नाभिमंडल छोटा, कुछ झुका हुआ गहरा है तथा उदर त्रिबलि से विभूषित है । इसके स्तन समस्त वक्षःस्थल पर व्याप्त हैं और उठे हुए एवं विशाल हैं । इसकी दोनों बाहें कोमल हैं, अंगुलियाँ लाल हैं, कंधे झुके हैं, नाखून कोमल तथा चिकने हैं, और जोड़ भरे हुए है; इनके तल धन-धान्य पुत्र आदि की समृद्धि की सूचना देने वाली सामुद्रिक रेखाओं द्वारा अलंकृत हैं । इसका मुखरूपी कमल

---

1 . दशकुमारचरितम् षष्ठ उच्छ्वास (पृ0- 189-191)

नीलम के समान सुन्दर घनी काली अलकपट्टिका से युक्त है; तथा उसने लम्बे-लम्बे कानरूपी-कमल-नाल को दुहरा करके कुण्डल की तरह खींच रक्खा है । और उससे उसके दोनों कान सुन्दर दिखाई दे रहे हैं । उनका सुगंधित केशकलाय अधिक घुंघराला नहीं है; वह सघन व किनारो पर भी भूरा नहीं होकर स्वाभाविक स्निग्ध नीलिमा से युक्त है ।

दण्डी की शैली, सरल, स्वाभाविक एवं स्फीत है; फिर भी कई स्थानों पर दण्डी ने भाषा को कलात्मक कृत्रिमता से जकड़ दिया है । सप्तम् उच्छ्वास में दण्डी ने शाब्दीक्रीड़ा का प्रयोग किया है । जहाँ मित्रगुप्त की कथा में ओष्ठ्य वर्णों को नहीं आने दिया है।[1] किन्तु दण्डी इन कलाबाजियों में कम दिलचस्पी लेते हैं और सम्भव है, दण्डी की नैसर्गिक गद्यशैली ने ही उन्हें बाण या सुबन्धु की तरह पुराने पण्डितों के हाथों द्वारा सम्मान न दिलाया। दण्डी ने आत्मचरितरूप कहानियों में कहीं भी 'परोक्षभूतेलिट्' का प्रयोग नहीं किया है; और इसका प्रयोग बीच-बीच में आने वाले उपकथाओं में हुआ है, पर कुमारों की उक्ति में दण्डी ने लङ् तथा लुङ् का ही प्रयोग किया है । दण्डी को लुङ् के प्रयोग करने का विशेष शौक है; जो उनके व्याकरण विषयक ठोस ज्ञान का प्रमाण है ।

कुल मिलाकर दण्डी का विषय-चयन, शैली और अभिव्यञ्जना 'अति' के दोष से मुक्त है । उन्हें संयम तथा अनुपात का सदा ध्यान रहता है । दण्डी की शैली में पञ्चतन्त्र वाली शैली की तरह उबा देने वाली गुत्थियाँ नहीं हैं । दण्डी

---

1. स किल करकमलेन किञ्चित्संवृत्ताननो ललितवल्लभारः
भसस्तऽन्त अतलसनः ध्वलाधर मणिनिरोष्ठ्य र्णमा न्यचरितमाचच अे। (दशकुमार चरितम् पृष्ठ - 236)

की शैली में न तो असंयत समासवाली लम्बे-लम्बे अनियमित वाक्य ही हैं; न जटिल श्लेष योजना । सुन्दरियों के वर्णनादि के प्रसंग में दण्डी रसासिक्तपदावली वाले लम्बे वाक्यों की विनियोजना करते हैं; किन्तु वह भी ऐसे वाक्य अधिक नहीं होते, वे एक मुद्रित पृष्ठ से अधिक नहीं बढ़ पाते इसका अर्थ यह नहीं कि दण्डी की शैली अनलंकृत है । भाव यह है कि दण्डी की प्रभावोत्पादकता उनकी संक्षिप्त, सूक्ष्म एवं संयत वर्णनशैली पर निर्भर है; जो निरवरोध धार की भाँति न तो असंयत ही है; न महती विन्ध्याटवी की भाँति थका देने वाली है । दण्डी सशक्त स्फीत संस्कृत गद्य शैली के अधिपति हैं; इसी के लिए उनको संस्कृत साहित्य में आदर प्राप्त है और उनकी यह महान् देन है ।[1]

1 . **Dasgupta and De: History of Sanskrit Literature. (P. 217)**

(ख) अलंकारः-

अलंकार सम्प्रदाय काव्यशास्त्र का प्रमुख सम्प्रदाय है । काव्यशास्त्र का पहला नाम अलंकारशास्त्र ही था। अलंकारशास्त्र के प्रतिपादक आचार्यों की दीर्घ परम्परा रही है; जिनके मतानुसार लक्षणग्रंथों में वर्णित काव्य, गुण, दोष, रस, 'रीति' अलंकार आदि सभी विषयों का समावेश अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत हो जाता है । काव्यादर्श की टीकाओं से विदित होता है; कि काश्यप ब्रह्मदत्त वररुचि और नन्दिस्वामी प्रभृति प्राचीन आचार्यों ने अलंकार सम्प्रदाय पर विशेष प्रकाश डाला था, किन्तु उक्त आचार्यों की कोई भी कृति इस समय देखने को नहीं मिलती । आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से ही अलंकार सम्प्रदाय का आरम्भ मानना चाहिए । किन्तु उसमें उपमा, दीपक, अनुप्रास व यमक इन चार अलंकारों का ही वर्णन किया गया है ।

अलंकार सम्प्रदाय का सबसे पहला ग्रन्थ भामह का काव्यालंकार है, जिसमें अलंकारों की वैज्ञानिक व्याख्या की गयी है और उन्हें सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का सर्वस्व माना गया है । आचार्य भामह के पूर्व सर्वांगपूर्ण ग्रंथ लिखे जा चुके थे, जैसा कि उन्होंने भी अपने पूर्ववर्ती मेधाविन् आदि अलंकारशास्त्रियों का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है । भामह ने काव्यालंकार की रचना कर अलंकार सम्प्रदाय की विच्छिन्न परम्परा को ग्रंथित ही नहीं किया; वरन् भरत के नाट्यशास्त्र की चहारदीवारी से घिरी हुई अलंकारों की बन्दी आत्मा को मुक्त कर, उसको स्वतत्र रूप से प्रशस्त होने का सुयोग भी दिया। आचार्य भामह ने अपने इस ग्रंथ में कतिपय ऐसी विशेषताओं को रखा, जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं

दिखाई देती और परवर्ती आचार्य भी उस दिशा में प्रायः मौन ही दिखाई पड़ते हैं । शब्द व अर्थ में काव्य की चेतना को प्रतिपादित करना भामह की ही विलक्षण सूझ का काम था । भरत द्वारा, प्रतिपादित दशविध गुणों का गुण-ओज, माधुर्य और प्रसाद में ही अन्तर्भाव करना तथा वक्रोक्ति समझना भामह की ही तत्त्व ग्राहिणी बुद्धि का परिणाम था । भामह ने अलंकृति को ही काव्य का सर्वस्व माना है । उन्होंने एक और भाव का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार न कर उनका अन्तर्भाव अलंकारों के ही अन्तर्गत माना है । भामह ने अपने ग्रंथ में 38 अलंकारों का प्रतिपादन किया है। भामह के सिद्धान्तों और चिन्तनाओं को आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट जैसे ख्यातनामा काव्य शास्त्रियों ने सम्मान के साथ अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है ।

भामह के बाद अलंकार सम्प्रदाय के उन्नायक आचार्य दण्डी हुए । इनका काव्यादर्श पण्डित-मण्डली का अत्यधिक प्रिय ग्रंथ रहा है । इसके द्वितीय-तृतीय परिच्छेद में अलंकारों का और विशेषतः अर्थालकारों में उपमा का तथा शब्दालकारों में यमक का जैसा शास्त्रीय और सारगर्भित विवेचन किया गया है; वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता । अलंकार सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्यों में इनका शीर्षस्थान है । इनकी असामान्य प्रतिभा का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इनके काव्यादर्श पर तरुण वाचस्पति (एक आज्ञातनामा लेखक) की हृदयंगमा टीका और नरसिंह देव शास्त्री की कुसुम प्रतिभा आदि सुप्रसिद्ध टीकाएँ लिखी गयी । दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलंकार की आत्मा स्वीकार किया है जैसा कि अभिनवगुप्त आदि परवर्ती आचार्यों ने माना है । भामह की

अपेक्षा दण्डी का दृष्टिकोण अधिक उदार दिखाई देता है क्योंकि उन्होंने अलंकारों के साथ-साथ गुण और रीति का भी प्रतिपादन किया है ।[1] यथार्थ में दण्डी के अलंकार की अपेक्षा रीति के विवेचन में अधिक उत्सुकता प्रखर भी है ।[2] यद्यपि भामह का प्रभाव दण्डी की प्रवृत्तियों पर होता है; फिर भी अपनी सैद्धांतिक प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने स्वतंत्र रूप से मौलिक विचारों की रचना की ।[3] दण्डी के बाद अंलकार सम्प्रदाय के तीसरे आचार्य उद्भट हुए। उनके ग्रंथ का नाम अलंकार सारसंग्रह है। भामह के काव्यांलकार पर उन्होंने एक विद्वतापूर्ण व्याख्या भामहविवरण नाम से लिखी है । अपने ग्रथों में उद्भट ने यद्यपि भामह के सिद्धात्त को ही विस्तार से प्रतिपादित किया है; किन्तु इनकी सूक्ष्म और अपने दृष्टिकोणों को रखने की प्रणाली इतनी सुलझी हुई थी, कि भामह तक की प्रतिभा को उन्होंने एक प्रकार से पराभूत कर दिया और यही कारण था कि उनके उत्तरवर्ती काव्य शास्त्रियों का ध्यान भामह की कृति की अपेक्षा उद्भट की कृतियों पर ही केन्द्रित हुआ । उनके हाथों से अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन इस तरह हुआ कि उनकी संख्या 50 तक पहुँच गयी । अलंकारों के क्षेत्र में अनेक वैज्ञानिक वर्गीकरण की पद्धति बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है ।

आचार्य वामन ने अलंकारों की महानता पर विशेष बल दिया । उन्होंने अलंकारों को न केवल काव्य के बाह्य सौन्दर्य का साधन मात्र बताया, वरन् उनको काव्य के अन्तर्गत-सौन्दर्य

का भी कारण बताया ।[1] अलंकारों के इस युग में काव्यानुभूति और काव्याभिव्यंजन के लिए अलंकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । अलंकारों का महत्त्व यहाँ तक रहा कि रस, ध्वनि, गुण, दोष रीति आदि सभी विषयों का समन्वय अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत किया जाने लगा । भामह से लेकर रुद्रट तक अलंकार सम्प्रदाय का स्वर्णयुग रहा है । आचार्य रुद्रट के समय तक अलंकारों की संख्या 70 तक पहुँच चुकी थी । इसके बाद आचार्य मम्मट अलंकार संप्रदाय के प्रख्यात विद्वान हुए । उनका 'ग्रंथ काव्यप्रकाश', काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रथों में से है । इस एक ग्रन्थ में ही भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट प्रभृति सभी पूर्ववर्ती दिग्गज विद्वानों के अशेष पाण्डित्य का सुन्दर समन्वय हुआ है । व्यञ्जना, रस और विशेषतः ध्वनि के प्रतिपादन में तो काव्यशास्त्र के आचार्यों का यह ग्रन्थ निर्देशक रहा है । अलंकार सम्प्रदाय की आचार्य परम्परा में प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक, भोज, राजशेखर, जयदेव, पंडितराज और अप्पयदीक्षित के नाम उल्लेखनीय हैं । इस तरह अलंकार सम्प्रदाय को समझ लेने के बाद कुछ अलंकारों के उदाहरण भी दिए जा रहे हैं यद्यपि दण्डी के इस काव्य में अलंकारों की बहुलता है । परन्तु कुछ अलंकार यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र के लिए दिए जा रहे हैं । अपहारवर्मा के द्वारा किया गया सूर्योदय वर्णन कई अलंकारों को समेटे हुए है ।

चिन्तयत्येव मयि महार्यवोन्भग्नमार्तण्डतुरंगश्वासरयावधूतेव व्यवर्तत प्रियाम् समुद्रकर्मवासजडीकृत इव मन्दप्रतापी दिवसः प्रादुरासीत्।[2]

1. कुमार स्वामीः प्रतापरुद्रीय टीका रत्नापर्ण पृष्ठ 3
2. वामन : काव्यालंकार सूत्र 1/1//2

जब मैं ऐसा सोच ही रहा था; तभी रात्रि व्यतीत हो गई जैसे समुद्र से तेजी से निकलते हुए सूर्यरूपी घोड़े के श्वास वायु के वेग ने उसे एक ओर उड़ा दिया हो और सूर्य प्रकट हुआ; जो मन्द प्रताप वाला इसलिए दिखाई दे रहा था कि समुद्र के जल में निवास करने से, उसका तेज ठण्डा पड़ गया था । उत्प्रेक्षा अलंकार के परिवेश में लिपटा सूर्योदय वर्णन सुन्दर बन पड़ा है। दण्डी ने राजमार्ग, राजमहल, श्मसान, निर्जन, महारानी सभी के वर्णनों में अपनी दक्षता का परिचय दिया है । ~~प्रथम~~ उच्छ्वास के धूमिनी वृत्तान्त के अकाल का करुण भयंकर वर्णन दण्डी की पर्यवेक्षण शक्ति का संकेत करता है ।

तेषु जीवत्सु न ववर्ष वर्षाणि द्वादशदशशताक्षः, क्षीणसारं सस्यम्, ओषध्यो वन्ध्याः, न फलवन्तो वनस्पतयः, क्लीबा मेघाः, क्षीणस्रोतसः स्रवन्त्यः, पङ्कशेषाणि पल्वलानि, निर्निस्यन्दान्युत्समण्डलानि, विरलीभूतं कन्दमूलफलम्, अवहीनाः कथाः, गलिताः कल्याणोत्सवक्रियाः, बहुलीभूतानि तस्करकुलानि, अन्योन्यमभक्षयन्प्रजाः, पर्यलुठन्नितस्ततो बलाकापाण्डुराणि नरशिरःकपालानि, पर्यहिण्डन्त शुष्काः काकमण्डल्यः, शून्यीभूतानि नगरग्रामखर्वटपुटभेदनादीनि ।[1]

उनके जीवन में एक बार बारह बरस तक बृष्टि न हुई, सारी फसलें निःसार हो गयीं और औषधियाँ निष्फल (बांझ) हो गईं, वनस्पतियों ने फल देना बन्द कर दिया, बादल नपुंसक (निर्बल) हो गए । नदियों में जल कम रह गया तालाबों में केवल कीचड़ रह गया, झरने सूख गए, कन्दमूल मिलना कठिन हो गया, लोगों का कथा सुनना बन्द हो गया, उत्सवादि गल गए, चोरों के झुण्ड बढ़ गए, लोग एक दूसरे को खाने लगे,

---

1. प्रथम उच्छ्वास

बगुलों के समान सफेद नरकपाल इधर-उधर लोटने लगे, कौवे पानी की खोज में इधर-उधर घूमने लगे और नगर, गाँव, छोटी बस्तियाँ सभी शून्य हो गयीं ।

कापालिक सिंह का भंयकर वर्णन प्रभावोत्पादक बना है ।

इति दिदृक्षाक्रान्तहृदयः, किङ्ककरगतया दिशा किञ्चिदन्तरं गतस्तरलतरनरास्थिशकलचितालङ्काराक्रान्तकायम् दहनदग्धकाष्ठनिष्ठाङ्गाररजःकृताङ्गरागम्, तडिल्लताकारजटाधरम्, हिरण्यरेतस्यरण्यचक्रान्धकारराक्षसे क्षणक्षणगृहीतनानेन्धनग्रासचञ्चदर्चिषि दक्षिणेतरेण करेण तिलसिद्धार्थकादीन्निरन्तरचटचटायितानाकिरन्तं, कञ्चिदद्राक्षम्।[1]

तब उस सिद्ध को देखने की इच्छा से मैं ठीक उसी ओर चल पड़ा जिधर वे नौकर गए थे । कुछ दूर जाकर अति उज्ज्वल नरास्थिखंडों के आभूषणों से अलंकृत शरीर वाले, अग्नि के द्वारा जलाए गए काष्ठ की भस्म का अंगराज वाले, बिजली के समान लम्बी जटा वाले और बाएँ हाँथ से वन के सघन अंधकार का भेदन करते हुए, अग्नि में जिसने नाना प्रकार के ईंधन के जलाने से ज्वालाएँ उठ रही थीं; चट-चट करते हुए तिल सरसें आदि को गिराते हुए किसी व्यक्ति को देखा.।

इस तरह नाना प्रकार के अलंकारों का प्रयोग आचार्य दण्डी ने किया है । यहाँ केवल एक झाँकी प्रस्तुत की गयी है ।

---

1. दशकुमारचरितम् सप्तम् उच्छ्वास पृष्ठ -214

(ग) रसः-

इस सम्प्रदाय के संस्थापक भरतमुनि हैं । यद्यपि राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में भरत से भी पहले नन्दिकेश्वर को रस सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक माना है; किन्तु नन्दिकेश्वर का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इसलिए उपलब्ध साहित्य के आधार पर साहित्यशास्त्र के पितामह-भरत के नाट्यशास्त्र में ही यह पाया जाता है.। भरतमुनि का ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'' यह प्रसिद्ध रससूत्र ही इस सिद्धांत का प्राणभूत है । उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी के आधार पर इसका विवेचन किया है । इसलिए भरतमुनि को ही रस सम्प्रदाय का आदिप्रर्वतक मानना होगा । भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रसों का और सातवें अध्याय में भावों का बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया है। वही रस सिद्धांत का आधार माना जाता है ।

भरतमुनि के रससिद्धाँत के व्याख्याकार के रूप में भट्टनायक, भट्टलोल्लट, शङ्कुक, अभिनवगुप्त आदि पाँच आचार्य बहुत प्रसिद्ध हैं । इनके मतों की चर्चा प्रकृत ग्रंथ काव्यप्रकाश में की गई है । ''काव्यप्रकाश'' का यह सारा विवरण भरतनाट्यशास्त्र की अभिनव भारती के आधार पर दिया है ।

लोक में रति आदि रूप स्थायी भाव के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं वे यदि नाटक या काव्य में होते, तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कहलाते हैं । और उन विभाव आदि से व्यक्त वह स्थायी भाव रस कहलाता है ।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावस्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः[1]।

इन कारिकाओं में विभाव, अनुभाव व्याभिचारीभाव तथा स्थायी भाव से रस की निष्पति का वर्णन किया गया है । और यह बतलाया गया है कि रति आदि की उत्पत्ति के जो कारण हैं; वे विभाव शब्द से कार्य अनुभाव शब्द से इनके अतिरिक्त निर्वेद को नौंवा स्थायीभाव माना गया है । काव्य प्रकाशकार ने लिखा है.।

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तेन केवलम् ।।
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः ।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ।।

विश्वनाथ आदि के सुखात्मक वाद के विपरीत अभिनवगुप्त ने प्रत्येक रस को आध्यात्मिक रस माना है, अर्थात् प्रत्येक रस में सुख और दुःख दोनों का समावेश रहता है; किन्तु इनमें से श्रृंगार हास्य, वीर, तथा अद्भुत इन चार रसों में सुख की प्रधानता के साथ-साथ दुःख का अनुवेद्य रहता है । इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण, तथा वीभत्स इन चार रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुख का आंशिक अनुवेद्य रहता है । केवल शान्त रस को उन्होंने सर्वथा सुखात्मक रस माना है । और सहकारी व्यभिचारी नाम से कहे जाते हैं । इनमें से

---

1. **काव्यप्रकाश 4/27,28**

रति आदि के कारण का नाम विभाव है । रति आदि के कारण दो प्रकार के होते है एक आलम्बन स्वरूप और दूससे उद्दीपन रूप । सीता, राम आदि के मन में एक दूसरे को देखकर परस्पर प्रेम या रति की उत्पत्ति होती है इसलिए वे दोनों आलम्बन विभाव कहलाते हैं । और परस्पर रति या प्रेम की उत्पत्ति के प्रति कारण होते हैं। इस प्रीति या रति को उद्दीप्त करने वाली चांदनी, उद्यान, नदी-तीर आदि सामग्री को उद्दीपन कहलाते हैं । दोनों मिलकर स्थायी भाव को व्यक्त करते हैं ।

स्थायी भावः- रस की प्रक्रिया में आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव को रस का बाह्य कारण समझना चाहिए। रसानुभूति का आन्तरिक और मुख्य कारण स्थायीभाव है। स्थायीभाव मन के भीतर स्थिर रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है; जो आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उद्बोधक सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठता है और हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार कर देता है। इस स्थायीभाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वादजनक या रस्यमान होने से रस शब्द में बोध्य होती है । इसलिए व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रस स्मृतः" आदि कहा गया है।

अर्थात् उपर्युक्त विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के संयोग से व्यक्त होने वाले स्थायी भाव को रस कहते हैं ।

व्यवहार दशा में मनुष्य को जिस-जिस प्रकार की अनुभूति होती है; उसको ध्यान में रखकर प्रायः आठ प्रकार के स्थायीभाव साहित्यशास्त्र में माने गए हैं । काव्यप्रकाशकार ने उनकी गणना इस प्रकार की हैः-

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावः प्रकीर्तितः ।।

अर्थात् 1. रति, 2. हास, 3. शोक, 4. क्रोध, 5. उत्साह, 6. भय, 7. जुगुप्सा या घृणा और 8. विस्मय । ये आठ स्थायी भाव कहलाते हैं ।

इस विषय का प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती ग्रंथ के प्रथम अध्याय में विस्तारपूर्वक किया है ।

रसों के विषय में नाट्यदर्पणकार रामचंद्र गुणचंद्र का मत इन दोनों से भिन्न प्रकार का है। उसे हम विभज्यवादी मत कह सकते हैं । विश्वनाथ ने सभी रसों को सुखात्मक रस माना है । अभिनवगुप्त ने सभी रसों को उभयात्मक रस माना है । किन्तु रामचन्द्र गुणचन्द्र ने न सब रसों को सुखात्मक ही माना है; और न दुखात्मक सब रसों में दुःख एवं सुख दोनों का समावेश ही माना जाता है । उन्होंने रसों को अलग-अलग दो विभागों में विभक्त कर दिया है । जिनमें श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त इन पाँच रसों को सर्वथा सुखात्मक; करुण, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक इन चार रसों को सर्वथा दुःखात्मक बतलाते हैं।

यही नहीं, बल्कि उन्होंने अभिनवगुप्त के उभयात्मकतावाद और अन्यों के सुखात्मकतावादी सिद्धांत का खण्डन भी स्पष्ट रूप से किया है। एकान्त सुखात्मकतावाद का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है-

अतः पुनः सर्वरसानां सुखात्मत्वमुच्यते तत् प्रतीतिबाधितम् । आस्तं नाम मुख्य विभावोपचितः काव्यभ्नियेष नीतिविभवोपचतोऽपि कथानको वीभत्सः करुणो रौद्रोवा रसास्वादवताम् जनाख्येयकामपि

क्लेश एषामुपनयति। उति एव भयानकादिमिरुहिजते समाजः । न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते ।

अर्थात् जो लोग सब रसों को नितान्त सुखात्मक मानते हैं; उनका वह मत प्रतीत से बाधित हो जाता है। मुख्य सिंहव्याघ्रादि भावों से उत्पन्न भयानक आदि की बात को जाने दीजिए किन्तु काव्य के अभिनव ने प्राप्त विभावों से उत्पन्न भयानक वीभत्स, करुण या रौद्र रस उसके आस्वादन करने वालों में किसी अनिवर्चनीय क्लेश दशा को उत्पन्न कर देते हैं । इसीलिए भयानक आदि रस सुखात्मक होते तो उनसे उद्वेग नहीं होता । इसलिए भयानक आदि रस दुःखात्मक ही हैं; सुःखात्मक नहीं ।

इस तरह रस सिद्धांत को समझ लेने के बाद कुछ उदाहरण दशकुमारचरितम् से भी दिए जा रहे हैं । श्रृंगार पक्ष में यदि देखा जाए तो भी वसुमती के सौन्दर्य का वर्णन कवि के द्वारा जो किया गया है; वह श्रृंगार का परिपोषक है । कामदेव के सभी साधन रानी-वसुमती के प्रत्येक अंगों में छिप गए। विजय चिह्न स्वरूप सपत्नीक मत्स्य उसकी आँखों में (कामदेव की मत्स्य चिन्हित ध्वजा प्रख्यात है) कामदेव के समस्त सैनिकों में प्रधान सेनानायक-मलयानिल उसके मुखवायु मे (के दक्षिण कामोद्वीपकता प्रसिद्ध ही है) पथिकों (प्रोवितों) के हृदय को विदीर्ण करने में तलवार की भाँति कार्य करने वाले लाल-लाल नव पल्लव (प्रबल) उसके ओष्ठ में (वृक्षों के लाल-लाल नवीन पत्र को देखने से विदेशस्थ सहृदय पुरुष के हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी सी पैदा होती है) । विजयध्वनि करने वाले कामदेव के शंख ऊँची नीची ग्रीवा में (सौन्दर्य शास्त्री ऊँचा-नीचा होने के कारण (शंख और गला का उपमानोपमेय भाव प्रख्यात है।) कामदेव की

विजय यात्रा में अपेक्षित जलपूर्ण कलश चक्रवाक (पक्षिविशेष) के सदृश उसके (वसुमति के) स्तनों में; कामदेव के धनुष की डोरी (जो कोमलता में मृणालसूत्र सदृश थी) वसुमती की दोनों भुजाओं में कामदेव के विलासभूषणरूप अधखिले लालकमल,-कोरक गंगावर्त के सदृश (भंवरदार) उसकी नाभि में ; योगियों के ध्यानाभिलाष को दूर करने वाले कामदेव का जैत्र (जय करने वाला) रथ अत्यन्त घन (सटे हुए) उसके जघन स्थल (कटि अग्रभाग) में, कामदेव के विजय स्तम्भस्वरूप और मनोज्ञ एवं योगाभ्यासियों के उद्योगों में विघ्न पैदा करने वाले, कदली स्तम्भ उसके दोनों जाँघों में; कामदेव के छत्र सदृश कमल, उसके दोनों पैरों में तथा कामदेव के अस्त्ररूप अन्य पुष्प वसुमती के शेष अंगों में जा छिपे ।

जयध्वजायमानो मीनो जायायुतोऽक्षियुगलम्, सकलसैनिकाङ्गवीरो मलयसमीरो निःश्वासः, पथिकहृद्दलनकरवालः प्रवालश्चाधरबिम्बम्, जयशङ्खो बन्धुरा लावण्यधरा कन्धरा, पूर्णकुम्भौ चक्रवाकानुकारौ पयोधरौ, ज्यायमाने मार्दवासमाने बिसलते च बाहू, ईषदुत्फुल्ललीलावतंसकह्लारकोरको गङ्गावर्तसनाभिर्नाभिः, दूरीकृतयोगिमनोरथो जैत्ररथोऽतिघनं जघनम् जयस्तम्भभूते सौन्दर्यभूते विघ्नितयतिजनारम्भे रम्भे चोरुयुगम्, आतपत्रसहस्रपत्रं पादद्वयम्, अस्त्रभूतानि प्रसूनानि तानीतराण्यङ्गानि च समभूवन्निव ।[1]

यहाँ पर रानी वसुमती के सौन्दर्य का वर्णन करके आचार्य दण्डी ने संयोग शृंगार पक्ष को प्रबल बनाया है। इसी तरह जब

---

1. **दशकुमारचरितम पूर्वपीठिका प्रथम उच्छ्वास**

पुष्पोद्भव अपना वृत्तान्त बताता है; तो ‌ ‌ बालचन्द्रिका नाम की एक तरुणी पुष्पोद्भव के दृष्टि पथ में आती है । तब वह उसका वर्णन करते हुए राजवाहन से कहता है हे राजन्! उसका मुख चंद्रमा के समान था । उसकी देह में रूप और यौवन भरे थे.। मानो वह नयनों की पुतली थी । उसके सौन्दर्य को देखकर मेरे धैर्य नष्ट हो गया और मैं कामदेव के बाणों का लक्ष्य बन गया ।

भयभीत चपलमृग के नयनों जैसी आँखों वाली वह बाल चन्द्रिका भी काम बाण सदृश कटाक्षों से मुझे अनेक बार देखकर, धीमी वायु द्वारा कंपायी गयी लता की तरह हिल उठी । प्रेम और लज्जा के मध्य में रहने वाले हाव-भावों से एवं हृदय से मेरे ऊपर थोड़ी पड़ने वाली पैनी नजरों से अपने मन के भावों को कह गयी। उसकी चतुरता तथा गुप्त चेष्टाओं द्वारा उसके हार्दिक अनुराग, अच्छी तरह जान कर, उसके साथ अनायास मिलने का उपाय सोचने लगा । एक दिन बन्धुपाल मेरे साथ शत्रुओं से आप के विषय में पता चलाने के लिए गाँव के बाहर विहार वन में गया और वहां किसी एक वृक्ष पर बोलते पक्षियों की बोली सुनने के लिए खड़ा हो गया । मैं अपनी उत्कण्ठा शान्ति के लिए यो ही घूमते-फिरते एक दूसरे वन में चला गया । वहाँ एक सरोवर के किनारे चिन्ता से व्याप्त चित्तवाली, क्लान्त मुखवाली और अपने मनोरथ का प्रधान आश्रय उस बालचंद्रिका को देखा ।

चकितबालकुरङ्गलोचना सापि कुसुमसायकसायकायमानेन कटाक्षवीक्षणेन मामसकृन्निरीक्ष्य मन्दमारुतान्दोलिता लतेवाकम्पत। मनसाभिमुखैः समाकुञ्चितै रागलज्जान्तरालवर्तिभिः सांगवर्तिभिरीक्षण-

विशेषैर्निजमनोवृत्तिमकथयत्। चतुरगूढचेष्टाभिरस्या मनोऽनुरागं सम्यग्ज्ञात्वा सुखसंगमोपायमचिन्तयम्[1] ।

अन्यदा बन्धुपालः शकुनैर्भवद्गतिं प्रेक्षिष्यमाणः पुरोपान्तविहारवनं मया सहोपेत्य कस्मिंश्चिन्महीरुहे शकुन्तवचनानि शृण्वन्नतिष्ठत् । अहमुत्कलिकाविनोदपरायणो वनान्तरे परिभ्रमन्सरोवरतीरे चिन्ताक्रान्तचित्तां दीनवदनां मन्मनोरथैकभूमिं बालचन्द्रिकां व्यलोकयम्[2] ।

यहाँ पर बाल चंद्रिका के नवयौवन को देखकर पुष्पोद्भव मोहित हो जाता है। अतः यहाँ पर श्रृंगार रस का संयोग पक्ष दृष्टिगोचर होता है । बाल चंद्रिका भी पुष्पोद्भव को देखकर मोहित हो जाती है। अतः अन्योन्याश्रित प्रेम श्रृंगाररस का जनक हो जाता है।

जब राजा राजवाहन का विवाह संस्कार सम्पन्न होता है; उस समय के प्रसंग में भी श्रृंगाररस का संयोगपक्ष परिपाक रूप में दृष्टिगोचर होता है । एक बार राजा मानसार की पुत्री अवंति सुन्दरी क्रीडोद्यान में कामदेव की पूजा करने हेतु समुपस्थित होती है। इधर पुष्पोद्भव के साथ राजकुमार राजवाहन भी उसी उद्यान में अवंतिसुन्दरी का दर्शन करने हेतु समुपस्थित होता हैं। बाल चंद्रिका के इशारे पर दोनों मालवेशकन्या के पास पहुँच जाते हैं। मालवेशकन्या के सौन्दर्य को देखकर राजा राजवाहन मोहित हो जाता है; क्योंकि वह अवंतिसुन्दरी ऐसी लगती थी, जैसे उत्कण्ठा से कामदेव ने अपनी पत्नी-रति का मन बहलाने के लिए पुतली बनने की इच्छा से एक स्त्रीविशेष का निर्माण किया हो। उधर अवंतिसुन्दरी राजवाहन को देखकर अपने

1. **दशकुमारचरितम पूर्वपीठिका चतुर्थ उच्छ्वास पृष्ठ 88-89**
2. **दशकुमारचरितम पूर्वपीठिका चतुर्थ उच्छ्वास पृष्ठ - 89**

ही द्वारा पूजित एवं अभिलषित वर प्रदान के लिए उपस्थित मूर्तिमान कामदेव की तरह राजवाहन को देखकर, मंद पवन सी, लिपटी लता सी कामदेव की वशीभूत हो खिल उठती है । तत्पश्चात् लज्जाशीलता में खेल बंद कर दिया और नाना भावों को व्यक्त करने लगी । उसे देखकर राजा कहता है कि स्त्री समाज की रचना करते हुए ब्रह्मा ने निश्चय ही घुणाक्षरन्याय से इसकी रचना की है । उधर अवंतिसुन्दरी के लिए भी राजवाहन का सौन्दर्य मानो हरिणी रूप उस अवंतिसुंदरी को फँसाने के लिए जाल के समान हो । राज्य वाहन भी कुछ समय कामदेव के बाणों के वशीभूत मन वाला हो गया ।

सा मूर्तिमतीव लक्ष्मीर्मालवेशकन्यका स्वेनैवाराध्यमानं सङ्कल्पितवरप्रदानायाविर्भूतं मूर्तिमन्तं मन्मथमिव तमालोक्य मन्दमारुतान्दोलिता लतेव मदनावेशवती चकम्पे। तदनु क्रीडाविश्रम्भान्निवृत्ता लज्जया कानि कान्यपि भावान्तराणि व्यधत्त। 'ललनाजनं सृजता विधात्रा नूनमेषा घुणाक्षरन्यायेन निर्मिता। नो चेदब्जभूरेवंविधो निर्माणनिपुणो यदि स्यात्तर्हि तत्समानलावण्यामन्यां तरुणीं किं न करोति' इति सविस्मयानुरागं विलोकयतस्तस्य समक्षं स्थातुं लज्जिता सती किञ्चित्सखीजनान्तरितगात्रा तन्नयनाभिमुखैः किञ्चिदाकुञ्चितैरञ्चितभ्रूलतैरपाङ्गवीक्षितैरात्मनः कुरङ्गस्यानायमानलावण्यं राजवाहनं विलोकयन्त्यतिष्ठत् सोऽपि तस्यास्तदोत्पादितभावरसानां सामग्र्या लब्धबलस्येव विषमशरस्य शरव्यायमाणमानसो बभूव ।[1]

1. दशकुमारचरितम् पंचम उच्छ्वास पृष्ठ 109 -110

राजवाहन और मालवेशकन्या का अंत:पुर में जब एकान्त में वार्तालाप होता है; तब अवंतिसुन्दरी कहती है; कि- हे राजन्! मेरी इच्छा के बिना इस (आपके) ओठ का चुम्बन कोई (दूसरी स्त्री) नहीं ले सकेगी, जिसे सरस्वती ने मुख से ग्रहण के द्वारा जूँठा कर दिया है। मेरी इच्छा के बिना लक्ष्मी के स्तन तट के द्वारा उपभोग किया गया इस ह्दय स्थल का आलिंगन कोई नहीं कर सकेगी । यों कहकर जैसे वर्षा आकाश में विस्तृत मेघमण्डली फैलाकर द्रोणपर्णी की विकसित कली की भांति उत्पन्न हुए अनुराग से अलंकृत नयन विस्फारित करती हुई, मोर पिच्छ समूह से मिलते-जुलते पुष्परूपी चन्द्र को (मोर पंख के नीले-नीले वृन्त से चित्र-विचित्र और भौंरों की नींद से भरे हुए केश कलाप से युक्त, उस (रमणी) में चमक रहे व लाल किरणों वाले केसरों से बनी हुई कदम्बकली की भाँति प्रिय की अधरमणि अधीरता पूर्वक चूम ली । उस कार्य से जग उठी अनुरागप्रवृत्ति से रम्य केलिक्रीड़ा आरम्भ हो गई ।

अशक्यं हि मदिच्छया विना सरस्वतीमुखग्रहणोच्छेषणीकृतो दशनच्छद एष चुम्बयितुम् । अम्बुजासनास्तनतटोपभुक्तमुरःस्थलं चेदमालिङ्गयितुम्' इति प्रियोरसि प्रावृडिव नभस्युपास्तीर्णगुरुपयोधरमण्डला प्रौढकन्दलीकुड्मलमिव रूढरागरूषितं चक्षुरुल्लासयन्ती बर्हिबर्हावली- विडम्बिना कुसुमचन्द्रकशारेण मधुकरकुलव्याकुलेन केशकलापेन स्फुरद- रुणकिरणकेसरकरालं कदम्बमुकुलमिव कान्तस्याधरमणिमधीरमाचुचुम्ब। तदारम्भस्फुरितया च रागवृत्त्या भूयोऽप्यावर्तताितमात्रचित्रोपचारशीफरो रतिप्रबन्धः ।[1]

---

1 . दशकुमारचरित प्रथम उच्छ्वास पृष्ठ - 2-3

इस तरह श्रृंगाररस के संयोग पक्ष के अन्य उदाहरण भी दशकुमारचरित में सन्निहित हैं, परन्तु सभी का उदाहरण देना समीचीन नहीं है । श्रृंगार रस का दूसरा पक्ष वियोगश्रृंगार है । वियोगश्रृंगार के उदाहरण भी प्रस्तुत काव्य में सन्निहित हैं । जब मानसार और राजहंस का युद्ध होने लगता है; तब मन्त्रियों द्वारा वसुमती को विन्ध्य वन में भेज दिया जाता है । वहाँ पहुँचकर तथा यह समाचार प्राप्त कर कि राजा राजहंस युद्ध में पराजित हो गए हैं, वह शोक सागर में निमग्न हो गयी । संयोग से पराजय के पश्चात् राजा भी उसी वन में पहुँच जाते हैं । उधर रानी शोक के कारण अपने दुपट्टे को मृत्यु का साधन बनाकर मरण की इच्छा करने वाली होकर, वाणी की मधुरता से कोयल की कण्ठ को तिरस्कृत करने वाली, इस प्रकार विलाप करने लगी कि अपने सौन्दर्य से कामदेव की समानता करने वाले हे राजन्! अगले जन्म में भी आप ही मेरे पति हो । इस प्रकार विलाप सुनकर उसी वन में स्थित राजा ने धीरे-धीरे मीठे वचनों द्वारा रानी को बुलाया ।

मृतिरेखायामिव क्वचिदुत्तरीयार्धेन बन्धनं मृतिसाधनं विरच्य मर्तुकामाभिरामा वाङ्माधुरीविरसीकृतकलकण्ठ-कण्ठा साश्रुकण्ठा व्यलपत् । 'लावण्योपमितपुष्पसायक, भूनायक, भवानेव भाविन्यपि जन्मनि वल्लभो भवतु' इति । तदाकर्ण्य नीहारकरकिरणनिकरसंपर्कलब्धावबोधो मागधो अगाधरुधिरविक्षरणनष्टचेष्टो देवीवाक्यमेव निश्चिन्वानस्तन्वानः प्रियवचनानि शनैस्तामाह्वयत् ।[1]

इस तरह यहाँ पर राजहंस और वसुमती का पुनर्मिलन होता है । इसके पूर्व दोनों शोक-सागर में निमग्न थे । अतः श्रृंगाररस का वियोगपक्ष यहाँ पर प्रकटित होता है । चतुर्थ उच्छ्वास में जब पुष्पोद्भव राजवाहन का अन्वेषण करते हुए भ्रमण कर रहा था ; तभी उसे एक स्त्री भयंकर ज्वाला से परिपूर्ण अग्नि में कूदने का साध्य करती हुई दिखाई दी । तब उसने कारण पूँछा? पुष्पोद्भव के पूँछने पर तापस वृद्ध गद्गद् स्वर से बोली - वत्स! यही कालयवन द्वीप में (रहने वाले) कालगुप्त नामक वैश्य की पुत्री सुवृत्ता है । यह अपने पति रत्नोद्भव के साथ नाव पर आ रही थी, कि अचानक नाव के समुद्र में डूब जाने पर, मुझ धाय के साथ भग्यवशात् एक काष्ठ-फलक (लकड़ी का पटरा) का सहारा लेकर किनारे पर आकर प्रसव काल समीप होने के कारण किसी जंगल में एक पुत्र को जन्म दिया । मेरे दुर्भाग्य से उस बालक को किसी जंगली हाथी द्वारा उठा लिए जाने पर मेरे साथ (इधन-उधर) भटकती हुई, 'सोलह वर्ष के पश्चात् पति और पुत्र से तुम्हारा मिलन होगा ।' इस सिद्ध वाक्य पर विश्वास होने के कारण एक पवित्र आश्रम में उक्त निर्धारित समय व्यतीत करने पर भी (उनके न मिलने से) अपार शोक का सहन करने में असमर्थ होकर; प्रज्ज्वलित अग्नि में अपने शरीर को आहुति देने के लिए तत्पर हो गयी थी ।

'पुत्र, कालयवनद्वीपे कालगुप्तनाम्नो वणिजः कस्यचिदेषा सुत सुवृत्ता नाम रत्नोद्भवेन निजकान्तेनागच्छन्ती जलधौ मग्ने प्रवहणे निजधात्रया मया सह फलकमेकमवलम्ब्य दैवयोगेन कूलमुपेतासन्नप्रसव- समया कस्याञ्चिदटव्यामात्मजमसूत मम तु

मन्दभाग्यतया बाले वनमा- तंगेन गृहीते मद्द्वितीया परिभ्रमन्ती 'षोडशवर्षानन्तरं भर्तृपुत्रसंगमो भविष्यति' इति सिद्धवाक्यविश्वासादेकस्मिन्पुण्याश्रमे तावन्तं समयं नीत्वा शोकमपारं सोढुमक्षमा समुज्ज्वलिते वैश्वानरे शरीरमाहुतीकर्तुमुद्युक्तासीत्' इति ।[1]

इस तरह उसके वाक्य पर विश्वास कर, अपना जीवन धारण करती हुई, वह स्त्री पुनः पति एवं पुत्र मिलन के सुख को प्राप्त करती है । अतः निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि यहाँ भी श्रृंगार के वियोगपक्ष की छटा दिखलाई देती है । श्रृंगाररस के अतिरिक्त अन्य रस भी दशकुमारचरित्तम् में विद्यमान् हैं । वह मंत्री जब राजवाहन को उत्तराधिकार में प्राप्त राज्य का संचालन करने के लिए नीतियुक्त वचन सिखलाता है तब बिहारभद्र यह कहता है कि हे राजन्! आपके पास अपार संपत्ति है, इसलिए राज्य के संचालन में पड़कर अपना समय बर्बाद न करें । राज्य का बोझ- उत्तरदायित्व संभालने में समर्थ विश्वस्त और स्वामिभक्त लोगों को सौंप कर, अप्सराओं के समान स्त्रियों के साथ बिहार करते हुए ऋषि के अनुसार गान, संगीत और मद्यपान की गोष्ठियों जमाते हुए, अपना जन्म सार्थक करें । यह सुन-कर दोनों हाथ जोड़कर राजा को प्रणाम करते हैं । इतना सुनकर आनन्द से खिले नेत्रों वाली पास की सुन्दरियाँ खूब ठहाका लगाकर हँसने लगीं । राजा स्वयं भी हँसते हुए कहता है कि उठिए आप तो कल्याणकारी शिक्षा देने से बड़े हैं, क्या

---

1. दशकुमारचरितम् पूर्वपीठिका चतुर्थ उच्छ्वास पृष्ठ 83-84

बात है ? कि गुरुता के प्रतिकूल कार्य कर बैठे हैं। यह कहकर उस क्रीड़ापूर्ण विहारभद्र को हटा दिया ।

राज्यभारं भारक्षमेष्वन्तरङ्गेषु भक्तिमत्सु समर्प्य, अप्सरःप्रतिरूपा- भिरन्तःपुरिकाभिः रममाणो गीतसंगीतपानगोष्ठीश्च यथर्तुबध्नन्यथार्हं कुरु शरीरलाभम्' इति पञ्चाङ्गस्पृष्टभूमिरञ्जलिचुम्बितचूडश्चिरमशेत प्राहसीच्च प्रीतिफुल्ललोचनोऽन्तःपुरप्रमदाजनः जननाथश्च सम्मितम् 'उत्तिष्ठ । ननु हितोपदेशाद्गुरवो भवन्तः किमिति गुरुत्वविपरीत- मनुष्ठितम्' इति तमुत्थाप्य क्रीडानिर्भरमतिष्ठत् ।[1]

इस प्रकार यहाँ पर हास्यरस की उत्पत्ति होती है, क्योंकि बिहारभद्र की जीवन जीने की शैली को सुनकर राज्यसभा के सभी लोग उसकी मूर्खता पर हास्य प्रकट करते हैं। वीररस इस पूरे काव्य में विद्यमान है । जब राजा राजहंस और मानसार का परस्पर युद्ध प्रारम्भ होता है; उस समय से लेकर पूरे काव्य में वीर रस ही दृष्टिगोचर होता है । जब इन दोनों का युद्ध प्रारम्भ होता है उस समय का एक प्रसंग अवलोकनीय है । उस समय परस्पर वैरभाव से आबद्ध उन दोनों वीरों, को देखने की जिज्ञासा से आए हुए, आकाशचारियों (देवताओं) के आश्चर्य के कारण युद्ध के प्रारंभ हो जाने पर, विजयाभिलाषी-मालवाधीश मानसार ने अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र के प्रयोगों से निपुण एवं युद्ध में इन्द्र के समान पराक्रमशाली मगधेश्वर (राजहंस) के ऊपर प्रारम्भ से ही भगवान् शंकर द्वारा प्रदत्त गदा का प्रहार कर दिया । उस समय राजहंस के तीक्ष्ण

---

1. दशकुमारचरितम् अष्टम् उच्छ्वास पृष्ठ - 251-52

बाणों द्वारा खण्डित किए जाने पर भी भगवान् शंकर की अवन्ध्य आज्ञा होने के फलस्वरूप, उस गदा ने (राजहंस के) सारथी का वध करते हुए, रथारूढ़ राजा को भी मूर्छित कर दिया ।

परस्परबद्धवैरयोरेतयोः शूरयोस्तदा तदालोकनकुतूहलागतगगन-चराश्चर्यकारणे रणे वर्तमाने जयाकाङ्क्षी मालवदेशरक्षी विविधायुधस्थैर्यचर्याञ्चितसमरतुलितामरेश्वरस्य मगधेश्वरस्य तस्योपरि पुरा पुरारातिदत्तां गदां प्राहिणोत् । निशितशरनिकरशकलीकृतापि सा पशुपतिशासनस्यावन्ध्यतया सूतं निहत्य रथस्थं राजानं मूर्च्छितमकार्षीत्.।[1]

इस प्रकार परस्पर युद्ध का वर्णन होने से यहाँ पर वीर रस पूर्णरूपेण विद्यमान है।

सोमदत्त जब राजवाहन का अन्वेषण करने के लिए भ्रमण करते हुए, किसी देवालय में ठहरता है; तो उसके ऊपर सहसा आपत्ति आ बैठती है । तब वह पराक्रम दिखाते हुए मानपाल से भयंकर युद्ध करता है । वह राजवाहन से अपनी कथा बताते हुए कहता है; कि हे राजन्! परस्पर द्वेष व क्रोध से भरी हुई घमासान युद्ध करने वाली, दोनों सेनाओं के बीच में पहुँच गया और अपने देदीप्यमान भुजाओं के गर्व से शत्रुओं के ऊपर बाणवर्षा करते हुए, प्रहार करने लगा। इसके बाद चंचल और क्रोधवान घोड़ों से युक्त अपने रथ को लाटपति के समीप ले जाकर, शीघ्रतापूर्वक आक्रमण करने के कारण, लाटपति के रथ

---

1. दशकुमारचरित पूर्वपीठिका प्रथम उच्छ्वास पृष्ठ 17

को प्राप्त कर, शत्रु का सिर काट लिया। लाटेश्वर के मरते ही, उसके शेष समस्त सैनिक भाग गए ।

परस्परमत्सरेण तुमुलसंगरकरभुमयसैन्यमतिक्रम्य समुल्लसद्भुजाटोपेन बाणवर्षं तदङ्गे विमुञ्चन्नरातीन्प्रारहम् । ततोऽतिरयतुरंगमं मद्रथं तन्निकटं नीत्वा शीघ्रलंघनोपेततदीयरथोऽहमरातेः शिरःकर्तन-मकार्षम्.। तस्मिन्पतिते तदवशिष्टसैनिकेषु पलायितेषु नानाविधहयगजा-दिवस्तुजातमादामय परमानन्दसन्ततो मंत्री ममानेकविधां सम्भावना-मकार्षीत्.।[1]

यहाँ भी सोमदत्त की वीरता का प्रदर्शन वीर रस को प्रकट करता है । आगे चलकर जब एक तापस वृद्धा, प्रहारवर्मा की कहानी अपहारवर्मा से बताती है; तो उसमे भी प्रहारवर्मा तथा संहारवर्मा, विकटवर्मा आदि के मध्य, जो युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है, वहाँ भी वीररस प्रस्फुटित होता है ।[2] इस तरह काव्यशास्त्रीय पक्ष भी दशकुमारचरितम् में पर्याप्त निगदित किया गया है । जिसके कारण उक्त ग्रन्थ की शोभा में चार चाँद लग जाता है ।

****

1. दशकुमारचरितम् पूर्वपीठिका तृतीय उच्छ्वास
2 . दशकुमारचरित तृतीय उच्छ्वास पृष्ठ-8

सप्तम-अध्याय

आलोच्य ग्रन्थ में अन्य प्रमुख वैशिष्ट्य

(क) यात्रा वर्णन -

राजा राजहंस और मानसार के बीच युद्ध होता है; जिसमें मानसार परास्त हो जाता है। कुछ दिनों के बाद तपस्या के बल से मानसार राजहंस को पराजित कर देता है। इसके कारण राजहंस जंगल की ओर चला जाता है। वहीं पर उसे राजवाहन नामक पुत्र प्राप्त होता है उसके मन्त्रियों को भी पुत्र प्राप्त होते हैं। ये ही पुत्र भविष्य में यात्रा के निमित्त परदेश चले जाते हैं। इनकी यात्रा बड़ी रोमाञ्चक ढंग से होती है। कुछ भाग्य की विषमता ऐसी होती है जिसके कारण अलग-अलग देशों में पहुँच जाते हैं और संकटपूर्ण जीवन-यापन करते हैं। पुनः यात्रा करते-करते एक ऐसा दिन आता है; जब राजवाहन से मुलाकात होती है और वे सब आप बीती उसे सुनाते हैं। आपबीती सुनाने की श्रृंखला बहुत ही लम्बी है, परन्तु उनमें से कुछ यात्रा का वर्णन यहाँ किया जा रहा है। इस आवलि में प्रथमतः सोमदत्त की कथा आती है -

उसने राजा से अपनी व्यथा कथा कहना प्रारम्भ किया। हे राजन् आप के चरण कमलों की सेवा की अभिलाषा से बन में घूमता हुआ, मैं प्यास से व्याकुल हो,

लताओं से अच्छादित नदी की शीतल जल पी रहा था; तभी वहाँ एक उज्ज्वल रत्न को पड़ा हुआ देखा । उसे उठाकर, कुछ दूर आगे बढ़ा, तो भगवान् सूर्य की अत्यधिक गर्मी से चलने में असमर्थ हो गया । उसी वन में एक देव-मंदिर को देखा और उसमें घुस गया । वहाँ मैंने अनेक बालकों के साथ एक दीन मुखवाले वृद्ध ब्राह्मण को देखा । उसे देखकर मुझे दया आयी । मैंने उस वृद्धब्राह्मण से कुशल पूछा । दरिद्रता के कारण पीला मुख वाला वह मन में बड़ी आशा (यह मुझे अवश्य कुछ देगा, इस प्रकार की) रखकर कहने लगा- महाभाग, मैं अनेक उपायों से इन मातृहीन बच्चों की रक्षा करता हूँ । सम्प्रति मैं इस कुदेश में भिक्षा माँग कर, उसे इन बच्चों को देता हुआ इसी शिवालय में निवास करता हूँ-

''भवच्चरणकमलसेवाभिलाषीभूतोऽहं भ्रमन्नेकस्यां वनावनौ पिपासाकुलो लतापरिवृतं शीतलं नदसलिलं पिबन्नुज्ज्वलाकारं रत्नं तत्रैकमद्राक्षम् । तदादाय गत्वा कंचनाध्वानमम्बर-मणेरत्युष्णतया गन्तुमक्षमो वनेऽस्मिन्नेव किमपि देवतायतनं प्रविष्टो दीनाननं बहुतनयसमेतं स्थविरमहीसुरमेकमवलोक्य कुशलमुदितदयोऽहमपृच्छम् । कार्पण्यविवर्णवदनो महदाशापूर्ण-मानसोऽवोचदग्रजन्मा-महाभाग, सुतानेतान्मातृहीनानानेकैरुपायै रक्षन्निदानीमस्मिन्कुदेशे भैक्ष्यं संपाद्य ददतेभ्यो वसामि शिवालयेऽस्मिन्' इति ।[1]

1 . दशकुमारचरितम् पूर्व पीठिका- 66-67

सोमदत्त के आख्यान के बाद पुष्पोद्भव की यात्रा वर्णन का क्रम आता है । राजन्! ब्राह्मण के कार्य के लिए ही आप गये होंगे यह निश्चय होने पर भी मित्रगण यह तय नहीं कर पाये कि आप किधर गये होंगे? अन्त में सब लोग परस्पर अलग-अलग होकर आपको चारों दिशाओं में ढूँढ़ने निकल पड़े । अन्त में मैं भी आपको ढूँढ़ने के लिए, पृथ्वी पर घूमते-घूमते एक दिन दोपहर के समय सूर्य की प्रखर किरणों को न सह सकने के कारण, पर्वत के किनारे एक सघन छाया वाले वृक्ष के नीचे थोड़ी देर बैठ गया । दोपहर के समय अपने सामने सभी अवयवों को सिकुड़ाये कछुए के समान आकृति वाले मनुष्य की छाया को देखकर, मैंने ऊपर की ओर अपने शिर को उठाया और देखा कि आकाश से अत्यन्त वेग से एक पुरुष गिरकर नीचे आ रहा है । यह देख कर मुझे दया आ गयी । मैंने उसे बीच में हो सँभाला और धीरे से पृथ्वी पर रख दिया । दूर से गिरने के कारण उसकी चेतना नष्ट हो चुकी थी । पानी के छींटे देकर उसे मैं होश में लाया । शोकाधिक्य के कारण उसकी आँखों में दुःख के आँसू भरे थे -

''देव, महीसुरोपकारायैव देवो गलवानिति निश्चित्यापि देवेन गन्तव्यं देशं निर्णेतुमशक्नुवानो मित्रगणः परस्परं वियुज्य दिक्षु देवमन्वेष्टुमगच्छत् । अहमपि देवस्यान्वेषणाय महीमटन्कदाचिदम्बरमध्यगतस्याम्बरमणेः किरणमसहिष्णुरेकस्य गिरितटमहीरुहस्य प्रच्छायशीतले तले क्षणमुपाविशम् । मम

पुरोभागे दिनमध्यसमये संकुचितसर्वावयवां कूर्माकृतिमानुषच्छायां निरीक्ष्योन्मुखो गगनतलान्महारयेण पतन्तं पुरुषं कंचिदन्तरालं एव दयोपनतहृदयो ऽङ्कमवलम्ब्य शनैरवनितले निक्षिप्य दूरापातवीतसज्ञं तं शिशिरोपचारेण विबोध्य शोकातिरेकेणोद्गतवाष्पलोचनं तं भृगुपतनकारणमपृच्छम् ।

इसके अनन्तर, इसी क्रम में रत्नोद्भव का यात्रा वर्णन विशद रूप में [illegible] किया गया है । तदनन्तर अपहारवर्मा अपनी यात्रा का हाल, राजकुमार-राजवाहन से सुनाता है । महाराज ! ब्राह्मण की भलाई के लिए, तब तुम्हारे पाताल में उतर जाने और मित्र-मण्डली के तुम्हारी खोज में फैल जाने पर, मैं भी पृथ्वी पर घूमता हुआ, अँग देश में गँगा के किनारे चम्पा के बाहर-बाहर 'तप-प्रभाव से पैदा हुई अलौकिक दृष्टि वाले कोई मरीचिनामक महर्षि हैं ।' यह बात किसी जन-समूह से जानकर, उनसे तुम्हारा मार्ग जानने का इच्छुक होकर उस प्रदेश की ओर चला और उस आश्रम में आम के एक पौधे की छाँह में उदंगयुक्त कान्ति वाले तपस्वी को देखा । उसके द्वारा अतिथि की भाँति सम्मानित होकर और क्षणभर आराम कर बोला- 'वे श्रीमान् मरीचि कहाँ हैं ? किसी कारण परदेश गये हुये मित्र के आने की दिशा उनसे जानना चाहता हूँ क्योंकि वे महर्षि चमत्कारी, ज्ञान-सम्पत्ति वाले के रूप में पृथ्वी पर ख्यात हैं' । तब उसने गर्म और दीर्घ साँस छोड़कर कहा- 'इस आश्रम में वैसे ऋषि थे-

'देव, त्वयि तदावतीर्णे द्विजोपकारायासुरविवरं त्वदन्वेषणप्रसृते च मित्र गणेऽहमपि महीमटन्नंगेषु गंगातटे बहिश्चम्पायाः 'कश्चिदस्ति तपःप्रभावोत्पन्नदिव्यचक्षुर्मरीचिर्नाम महर्षिः' इति कुतश्चित्संलपतो जनसमाजादुपलभ्यामुतो बुभुत्सुस्त्वद्गतिं तमुद्देशमगमम् । न्यशामयं च तस्मिन्नाश्रमे कस्यचिच्चूतपोतकस्य छायायां कमप्युद्विग्नवर्णः तापसम् । अमुना चातिथिवदुपचरितः क्षणं विश्रान्तः 'क्वासौ भगवान्मरीचितः, तस्मादहमुपलिप्सुः प्रसंगप्रोषितस्य सुहृदोगतिम्, आश्यर्यज्ञानविभवो हि सो महर्षिर्मह्यं विश्रुतः' इत्यवादिषम् । अथासावुष्णमायतं च निःश्वस्याशंसत् ।[1]

पश्चात् उपहारवर्मा की कहानी प्रस्तुत की गई है । उन्होंने राजवाहन से कहा, कि-हे राजन् ! एकबार घूमता-घामता मैं विदेह राज्य में पहुँचा । मिथिला में बिना प्रवेश किये आराम करने के लिये किसी छोटे मठ के बाहर पहुँचा । वहाँ एक बूढ़ी तपस्विनी ने पैर धोने के लिये पानी दिया और मैं क्षणभर दरवाजे के बाहर के चबूतरों पर ठहर गया । मेरे दर्शन से ही उसकी आँखों से अद्भुत रूप से अविराम धारा में आँसू बह चला । 'माँ, यह क्या ? कारण बताओ' यह पूछने पर करुणा-पूर्ण ढंग से बोली- 'हे आयुष्मान् वत्स, इसके पति मिथिला के प्रहारवर्मा थे । मगध के राजा राजहंस उनके परम मित्र थे । मगध के राजा

---

1 . दशकुमारचरितम् पूर्व पीठिका- 17-18

राजहंस उनके परम मित्र थे। बल और शम्बल की भाँति उन दोनों की क्रमशः वसुमती और प्रियंवदा नामक प्रियाओं में अतुल्य मैत्री थी । कुछ समय बाद पहले गर्भ से अभिनन्दित, उस प्रिय सहेली वसुमती को देखने की इच्छा लेकर प्रियंवदा पति के साथ पुष्पपुर गई । उसी समय मालवराज से मगध-नरेश की घमासान लड़ाई हुई । उसमें महाराज जिस दशा में पहुँचे, उसका जरा भी पता न चला । मालव-नरेश के प्रयत्न से मिथिला-नरेश बच गये और अपने राज्य लौट गये-

'एषोऽस्मि पर्यटन्नेकदा गतो विदेहेषु । मिथिलामप्रविश्यैव वहिः कचन्मठिकायां विश्रमितुमेत्य कयापि वृद्धतापस्या दत्तपाद्यः क्षणमलिन्दभूमाववास्थिषि । तस्यास्तु मद्दर्शनादेव किमप्याबद्धधारमश्रु प्रावर्तत । 'किमेतदम्ब, कथय कारणम्' इति पृष्टा सकरुणमाचष्ट - जैवातृक, ननु श्रूयते पतिरस्या मिथिलायाः प्रहारवर्मा नामासीत् । तस्य खलु मगधराजो राजहंसः परं मित्रमासीत् । तयोश्च वल्लभे बलशम्बलयोरिव वसुमतीप्रियंवदे सख्यमप्रतिमभधत्ताम् । अथ प्रथमगर्भाभिनन्दितां तां च प्रियसखीं दिदृक्षुः प्रियंवदा वसुमतीं सह भर्त्रा पुष्पपुरमगमत् ।[1]

क्रमानुसार अर्थपाल का यात्रा वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है । उन्होंने कहा कि हे महाराज ! उस स्थिति में

---

1 . दशकुमारचरितम् पूर्व पीठिका- 77-78

पड़ा हुआ; मैं भी इन्हीं साथियों के समान कार्य करता हुआ; लहर-मालाधारी समुद्र की सीमा वाले भूमि-मण्डल पर टहलता हुआ किसी समय काशीपुरी वाराणसी पहुँचा । रत्न-खण्डों के समान निर्मल जल वाले मणिकर्णिका तीर्थ में स्नान कर काशीपति भगवान् अन्धकासुरनाशक को प्रणाम कर एवं परिक्रमा कर एक आदमी को देखा; जो बड़े डील-डौल वाला था, जो लोहे के घोटे के समान मोटी भुजाओं से कमर कस रहा था तथा जिसके नेत्र बिना रुके हुये, रोने से सूजे और लाल थे । तब मैंने सोचा - 'यह आदमी कठोर है । क्षीण पुतलियों वाले नेत्र मानों करुणा बरसा रहे हैं और निश्चय साहस सूचित करता है । निश्चय ही वह प्राणों की परवाह न करने वाला है और ऐसे संकट में पड़ेगा; जो आत्मीयों के संकट का कारण बनेगा । इससे पूछना चाहिये कि मेरे लिये सहायता देने का कोई अवसर है या नहीं उपर्युक्त इस व्यक्ति के पास पहुँचकर मैंने पूछा-'सौम्य, यह उद्योग साहस की सूचना देता है । यदि गोपनीय बात न हो, तो मैं शोक का कारण सुनना चाहता हूँ ।' उसने मुझे बहुत आदर से देखकर 'क्या हर्ज है? सुने-

'देव ! सोऽहमप्येभिरेव सुहृद्भिरेककर्मोर्मिमालिनेमिभूमिवलयं परिभ्रमन्नुपासरं कदाचित्काशीपुरीं वाराणसीम् । उपस्पृश्य मणिभङ्गनिर्मलाम्भसि मणिकर्णिकायामविमुक्तेश्वरं भगवन्त-मन्धकमधनमभिप्रणम्य प्रदक्षिणं परिभ्रमन्पुरुषमेकमायामवन्तमाय-सपरिघपीवराभ्यां भुजाभ्यामाबध्यमानपरिकरमविरतरुदितोच्छूनता-

म्रदृष्टिमद्राक्षम् । अतर्कयं च-'कर्कशोऽयं पुरुषः, मेकमायाम-वन्तमायसपरिघपीवराभ्यां भुजाभ्यामाबध्यमानपरिकरमविरतरुदितोच्छूनताभ्रदृष्टिमद्राक्षम् । अतर्कयं च - 'कर्कशोऽयं पुरुषः, कार्पण्यमिव वर्षति क्षीणतारं चक्षुः, आरम्भश्च साहसानुवादी, नूनमसौ प्राणनिःस्पृहः किमपि कृच्छ्रं प्रियजनव्यसनमूलं प्रतिपत्स्यते । तत्पृच्छेयमेनमस्ति चेन्ममापि कोऽपि साहाय्यदानावकाशस्तमेभ्युपेत्येत्यपृच्छम्- 'भद्र, संनाहोऽयं साहसमवगमयति ।[1]

तब उसने प्रणाम कर निवेदन किया- 'महाराज ! महाराज की खोज में मैं दिशाओं में घूमता हुआ गगनचुम्बी विन्ध्याचल के समीप भी पहुँच । वहाँ उगे हुये एक वृक्ष के नीचे पश्चिम-दिशा-रूपी रमणों के मुख के डूब रहे सूर्य रूपी नये पत्ते से विभूषित होने पर एक छोटे तालब के जल के पास आकर, पानी पीकर, संध्या-उपासना कर, अन्धकार से समतल बने हुये, ऊँचे-नीचे स्थानों पर चलने में असमर्थ होता हुआ; पृथ्वी तल पन नये पत्तों से सेज बनाकर, शयन का इच्छुक होकर, जोड़े हुये हाथ, सिर तक ले जाकर 'जो देवता इस वृक्ष पर रहते हैं; वे ही हिंसक जन्तुओं के समूह के चलने फिरने से भयंकर और शिव के गले के समान काले रात्रि अंधकार के प्रवाह से भरे, गहरे गुफाओं वाले इस महान् वन में अकेले नींद में डूबे हुये मेरे सहायक हों । यह कहकर बायीं बाँह को तकिया बनाकर लेट गया-

---

1 . दशकुमारचरितम् पूर्व पीठिका- 112-113

सोऽपि प्रणम्य विज्ञापयामास-'देव देवस्यान्वेषणाय दिक्षु भ्रमन्नभ्रंकषस्यापि विन्ध्यपार्श्वरूढस्य वनस्पतेरधः, परिणतपतङ्ग-बालपल्लवावतंसिते पश्चिमदिगङ्गनामुखे पल्लवलाम्भस्युपस्पृश्योपास्य संध्याम् तमःसमीकृतेषु निम्नोन्नतेषु, गन्तुमक्षमः क्षमातले किसलयैरुपरचय्य शय्यां शिशयिषमाणः, शिरसि कुर्वन्नञ्जलिम्, 'यास्मिन्वनस्पतौ वसति देवता सैव मे शरणमस्तु शरारुचक्रचारभीषणायां शर्वगलश्यामशार्वरान्धकारपूराध्मातगभीर-गह्वारायामस्यां महाटव्यामेक कस्य मे प्रसुप्तस्य' इत्युपधाय वामभुजमशयिषि ।[1]

प्रमति की यह जीवन कथा सुनकर, राजवाहन का मुख-कमल प्रफुल्लित हो उठा । इसके बाद मित्र गुप्त की रामकहानी प्रारम्भ होती है । फिर वह बोला- 'महाराज, उस स्थिति में मेरे भ्रमण का कारण भी वही था जो समान रूप से मित्रों का था । सुह्म-प्रदेश के दामलिप्त नामक नगर के बाहरी उपवन में एक बड़ा मेला देखा । वहाँ कहीं माधवी लता-कुञ्ज में वीणा-वादन से, अपने दिल का भार हलका करते हुये, किसी व्याकुल नौजवान को देखा और पूछा-सौम्य, इस उत्सव का नाम क्या है, किसलिये शुरू किया गया है और किस कारण उत्सव की उपेक्षा कर आप आकुल से एकान्त में वीणा के साथ ठहरे हैं ?' वह बोला, ' सौम्य, सुह्म-नरेश तुङ्गधन्वा निःसंतान हैं । इस देव-मंदिर

---

1 . दशकुमारचरितम् पूर्व पीठिका- 140-141

में विन्ध्य के निवास का अनुराग भूलकर, रहरही-विन्ध्यासिनी के चरणों में उन्होंने दो सन्तानों को प्रार्थना की थी और अनशन कर बैठ गये थे। कहते हैं, देवी ने उनसे नींद में कहा- 'तुम्हारे एक लड़का होगा और एक लड़की पैदा होगी। वह उसके पति पर आश्रित रहेगा। वह सातवें वर्ष से लेकर ब्याह तक हर महीने कृत्तिका नक्षत्र में गुणवानृ पति पाने के लिये कन्दुक-नृत्य के द्वारा मेरी आराधना करें। वह जिसके प्रति आसक्त हो, उससे ब्याह कर देना। उस उत्सव का नाग कन्दुकोत्सव हो। फिर थोड़े समय के अन्दर राजा की प्यारी रानी मेदिनी ने एक पुत्र को जन्म दिया। एक पुत्री भी पैदा हुई। उस कन्या का नाम कन्दुकावती है। वह आज सोमापीडा देवी को कन्दुकनृत्य से प्रसन्न करेगी। उसकी धाय की लड़की चन्द्रसेना मुझे प्रिय थी। वह इन दिनों राजकुमार भीमधन्वा के द्वारा जबर्दस्ती रोक ली गई है। इसलिये मैं आकुल और काम देव के बाण की नोक से उत्पन्न दुःख से पीड़ित चित्त लेकर वीणा के गम्भीर नाद से एकान्त में अपने को कुल ढाढस देता हुआ बैठा हूँ-

सोऽप्याच्चक्षे- देव सोऽहमपि सुहृत्साधारणभ्रमणकारणः सुह्मेषु दामलिप्ताह्वनगरस्य बाह्योद्याने महान्तमुत्सवसमाज-मालोकयम्। तत्रक्वचिदतिमुक्त- कतलामण्डपे कमपि वीणावादेनात्मान विनोदयन्तमुत्कण्ठितं युवानमद्राक्षम्, अप्राक्षं च-'भद्र को नामायमुत्सवः? किमर्थं वा समारब्ध ? केन वा

निमित्तेनोत्सवमनादृत्यैकान्ते भवानुत्कण्ठित इव परिवादिनीद्वितीयस्तिष्ठति इति । सोऽभ्यधत्त- 'सौम्य सुह्मपतिस्तुङ्गधन्वा नामानपत्यः प्रार्थितवानमुष्मिन्नायतने विस्मृतविन्ध्यवानरागं वसन्त्या विन्ध्यवासिन्याः पादमूलानपत्यद्वयम् । अनया च किलास्मै प्रतिशयिताय स्वप्ने समादिष्टम्- 'समुत्पत्स्यते तवैकः पुत्रः, जनिष्यते चैका दुहिता । स तु तस्याः पाणिग्राहकमनुजीविष्यति । सा तु सप्तमाद्वर्षादारभ्याऽऽपरिणयनात्प्रतिमासं कृत्तिकासु कन्दुकनृत्येन गुणवद्भर्तृलाभाय मां समाराधयतु । यं चाभिषेत्सामुष्मै देया । स चोत्सवः कन्दुकोत्सवनामास्तु' इति । ततोऽल्पीयसा कालेन राज्ञः प्रियमहिषी मेदिनी नामैकं पुत्रमसूत । समुत्पन्न चैका दुहिता । साद्य कन्या कन्दुकावती नाम सोमापीडां देवीं कन्दुकविहारेणाराधयितुमागभिष्यति । तस्यास्तु सखी चन्द्रसेना नाम धात्रेयिका मम प्रियासीत् । 'सा चैषु दिवसेषु राजपुत्रेण भीमधन्वना बलवदनुरुद्धा । तदहमुत्कण्ठितो मन्मथशरशल्य- दुःखोद्विग्नचेताः कलेन वीणारवेणात्मानं किंचिदाश्वा- सयन्विविक्तमध्यासे' इति ।[1]

तदनन्तर राजवाहन की आज्ञा प्राप्तकर मंत्रगुप्त ने भी यात्रा वर्णन प्रस्तुत करते हुए कहा - राजकुमार, पहाड़ की गुफा में पहुँचे हुये आप किधर गये? यह पता लगाता हुआ; मैं कभी कलिंग देश पहुँचा । कलिङ्ग नगर से कुछ दूर स्थित श्मशान से लगे हुये, एक दुर्गम मार्गवर्ती वृक्ष के

---

1 . दशकुमारचरितम् पूर्व पीठिका- 167-167

नीचे बैठकर लेट गया । वहाँ रस-युक्त नये पत्तों का विस्तर बिछा हुआ था । मेरी दृष्टि निद्रा के द्वारा व्याप्त हो गई थी । आधी रात के समय अंधकार काल-रात्रि के केश-पाश के समान था । राक्षसों ने चलना-फिरना शुरू कर दिया था । ओस गिर चुकी थी । सभी लोग अपने घरों में छिप चुके थे । उसमें बहुत ठण्ड थी । उसके बीत जाने पर 'कैसे इस दुष्ट पापी सिद्ध ने आमोद-प्रमोद की इच्छा वाले समय पर बेलगाम अनुराग से पीड़ित मुझे आदेश देने के इच्छुक होकर इस प्रकार बाँध दिया है । किसी असीम बल वाले व्यक्ति को इस नीच मंत्र ज्ञाता की सिद्धि में विघ्न डालना चाहिये' यों नौकर और उसकी स्त्री का अत्यन्त करुण क्रन्दन कर्ण-प्रदेश में पहुँचा । खूब घने वृक्षों की ढालों के बची वह गूँज रहा था और आँखें झूम रही नींद रोक रहा थी । वह सुनकर 'यह सिद्ध कौन है, सिद्धि क्या है और यह दास क्या करेगा ?' यह देखने की इच्छा से मेरा हृदय व्याप्त हो गया-

राजाधिराजनन्दन, नगरन्ध्रगतस्य ते गतिं ज्ञास्यान्नहं च गतः कदाचित्कलिङ्गान् । कलिङ्गनगरस्य नात्यासन्नसंस्थित-जनदाहस्थानसस त्तस्य कस्यचित्कान्तारधरणिजस्यास्तीर्णसरस-किसलयसंस्तरे तले निषद्य निद्रालीढदृष्टिरशयिषि । गलति च कालरात्रिशिखण्डजालकान्धकारे, चलितरक्षसि क्षरितनीहारे निजनिलयनिलीननिःशेषजने नितान्तशीते निशीथे धनतरसालशाखान्तरालनिर्हादि नेत्रनिंसिनीं निद्रां निगृह्णत्,

कर्णदेशं गतं 'कथं खलेनानेन दग्धसिद्धेन रिरंसाकाले निदेशं दि्सता जन एष रागेणानर्गलेनार्दित इत्थं खिलीकृतः । क्रियेतास्याणकनरेन्द्रस्य केनाचिदनन्तशक्तिना सिद्धयन्तरायः इति किंकरस्य किंककर्याश्चातिकातरं रटितम् । तदाकर्ण्य 'क एष सिद्धः ? का च सिद्धि ? किं चानेन किंकरेण करिष्यते ?[1]

इसके बाद, अन्त में राजवाहन ने विश्रुत को आदेशित किया अपनी यात्रा वृतान्त बताने का उन्होंने कहा महाराज ! मैं भी घूमने लगा । विन्ध्याचल में भूख-प्यास से कष्ट पाता हुआ, क्लेश सहने के आयोग्य, लगभग आठ वर्ष का एक लड़का कुयें के पास दिखा । उसने भय से लड़खड़ाते स्वर में कहा- 'महोदय मैं क्लेश-युक्त हूँ । श्रीमान्, मेरी सहायता करें । मेरी- प्राण-नाशक प्यास दूर करने के लिये पानी निकालते समय इस कुयें में मेरे एकमात्र आश्रय-स्वरूप एक वृद्ध गिर पड़े हैं । उन्हें निकालने में मैं समर्थ नहीं हूँ । तब मैंने पास जाकर किसी लता से बूढ़े को निकालकर और बॉस की नाली के सिरे से निकाले गये जल तथा बाण के जाने तक की ऊँचाई से भी ऊँचे बढ़हर के पेड़ के ऊपरी भाग से पत्थरों से गिराये गये पॉच-छह फलों से उस बालक की प्राण-स्थिति वापस लाकर, पेड़ के तले बैठकर, उस वृद्ध से कहा- श्रीमान्, यह बालक कौन है, आप कौन हैं और यह आफत कैसे आ पड़ी है?

1 दशकुमारचरितम् पूर्व पीठिका- 213-214

'देव, मयापि परिभ्रमता विन्ध्याटव्यां कोऽपि कुमारः क्षुधा तृषा च क्लिश्यन्नक्लेशार्हः क्वचित्कूपाभ्याशेऽष्टवर्षदेशीयो दृष्टः । स त्रासगद्गद्मगदत् - 'महाभाग, क्लिष्टस्य मे क्रियतामार्य, साहाय्यकम्। अस्य में प्राणापहारिणीं पिपसां प्रतिकर्तुमुदकमुद्धरन्निह कूपे कोऽपि निष्कलो ममैकशरणभूतः पतितः । तमलमस्मि नाहमुद्धर्तुम्' इति । अथाहमभ्येत्य व्रतत्या । कयापि वृद्धमुत्तार्य, त च बालं वशनालीमुखोद्धृताभिरद्भिः फलैश्च पञ्चषैः शरक्षेपोच्छ्रितस्य लकुचवृक्षस्य शिखरात्पाषाणपातितैः प्रत्यानीतप्राणवृत्तिमापाद्य, तरुतलनिषण्णस्त जरन्तमब्रवम्-'तात, क एष बालः? को वा भवान्? कथं चेयमापदापन्ना ? इति ।[1]

इस प्रकार यात्रा वर्णन किया गया है । अनन्तर उत्तर पीठिका में राजवाहन आदि सभी कुमारों को ऋषि वामदेव ने आज्ञा दी कि तुम लोग एक बार जाकर अपने राज्य का न्यायपूर्वक पालन करो । फिर जब इच्छा हो तब माता-पिता के चरणों में प्रणाम करने के लिए आ जाना । तब वे सभी कुमार ऋषि की वह बात मानकर उन्हें और माँ-बाप को प्रणाम कर दिग्विजय करके पुनः लौटने तक का अपना-अपना वृत्तान्त ऋषि के सामने प्रस्तुत किये ।

इस तरह पूरे काव्य में यात्रा के साथ-साथ परोपकार का कितना मंजुल वर्णन है । यद्यपि यात्रा के लिए तो यहां

1 . दशकुमारचरितम् पूर्व पीठिका- 237-238

तक कहा गया है कि ''कापि यात्रा सुखकरी न भवति'' । परन्तु जीवन भी एक यात्रा है, इसमें कभी सुख और कभी दुःख सहने पड़ते हैं । आचार्य दण्डी के दसों कुमार उभय पक्ष को सहते हुए अंत में एक दूसरे से मिल जाते हैं । मिलने पर बड़ी प्रसन्नता होती है और इसीलिए आप बीती सभी सुनाते हैं । यह यात्रा बहुत ही हृदयावर्जक और व्याह्लादक है क्योंकि इसके अन्दर बहुत सी अवान्तर कथाओं का सन्निवेश है, जो सामाजिकता और नैतिकता की उपदेशिका हैं । समाज के कोरे ज्ञान का त्यागकर विशुद्धता की ओर उन्मुख करने में इस काव्य की मुख्य भूमिका है । इसी कारण अंत में सभी सुख एवं समृद्धि को प्राप्त कर जीवन निर्वहन करने लगते हैं ।

*****

उपसंहार

भारतीय साहित्याकाश में आचार्य दण्डी को विशिष्ट स्थान संप्राप्त है। लक्षण ग्रंथों के आधार पर प्रत्येक काव्य फल प्रदाता होता है। जिसकी परिष्कृत एवं परिमार्जित व्याख्या आचार्य मम्मट ने अपने सुप्रसिद्ध लक्षण ग्रंथ काव्यप्रकाश में अधोलिखित किया हैं –

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे।।

उपर्युक्त व्याख्या में से 'शिवेतरक्षतये' और 'यशशे' को आधार मानकर दशकुमारचरितम् की रचना की गयी है। संस्कृत साहित्य के रूप, निर्माण तथा विकास के ऊपर भारतीय तत्वज्ञान का विशेष प्रभाव पड़ा है। भारतीय दर्शन सर्वदा से आशावादी रहा है। नैराश्य की कालिमा दर्शन के गगन–मण्डल को कतिपय क्षणों के लिए भले ही मलिन और अन्धकारपूर्ण बनाये, परन्तु आशावादिता का चन्द्रोदय उसे प्रकाश से पेशल तथा शान्ति से सर्वदा स्निग्ध बनाये रखता है। संस्कृत नाटकों के सुखान्त रूप की जानकारी के लिए भारतीय दार्शनिक विचारों से परिचय पाना नितान्त आवश्यक है। भारतीय तत्वज्ञान नैराश्य के भीतर से आशा का, विपत्ति के भीतर से सम्पत्ति का तथा दुःख के भीतर से सुख का उद्‌गम अवश्यम्भावी मानता है। संसार का पर्यवसान दुःख में नहीं है। यह जीवन व्यक्तित्व के विकास में अपना स्वतः मूल्य और महत्व रखता है। संघर्ष के भीतर से शान्ति की प्रभा छिटकती है; संग्राम के बीच में विजय का शंखनाद घोषित होता है। मानव की वैयक्तिक पूर्णता की अभिव्यक्ति में यह जीवन एक साधनमात्र है। निष्प्रपंच ब्रह्म की भी प्राप्ति प्रपंच के भीतर से ही तो होती है। फलतः संसार का व्यापक दुःख, परिदृश्यमान सन्तोष तथा वैषम्यमय क्लेश अन्ततोगत्वा सुख में, सौख्य में तथा आनन्द में परिणत होते हैं। इसी दार्शनिक विचारधारा के कारण जीवन के संघर्ष को प्रदर्शित करने पर भी नाटक का पर्यवसान सदा

मंगलमय होता है। संस्कृत में दु:खान्त नाटकों के नितान्त अभाव का रहस्य इसी दार्शनिक सिद्धान्त में छिपा है। संस्कृत नाटककारों के ऊपर जीवन के केवल सौख्यपक्ष के प्रदर्शक होने से एकांगित्व का आरोप कथमपि न्याय्य नहीं माना जा सकता। काव्य जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति है। सच्चा कवि जीवन के सुख–दु:खों में रमता है। वह जनता के जीवन का अनुभव कर उसके मार्मिक स्थलों को कमनीय भाषा में अभिव्यक्त करता है। उसके काव्यों में जनहृदय स्पन्दित होता है और जनता की मूक वेदना अपनी पूर्ण तथा प्रभावशाली अभिव्यञ्जना पाती है उसकी कमनीय कृतियों में। सुख और दु:ख, वृद्धि और ह्रास, राग और द्वेष, मैत्री और विरोध के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न नानात्मक स्थिति का ही मार्मिक अभिधान 'जीवन' है। इसकी पूर्ण अभिव्यञ्जना दु:ख का सर्वथा परिहार कर देने पर क्या कभी हो सकती है ? क्या संस्कृत का कवि जीवन के केवल सौख्यपक्ष के चित्रण में ही अपनी वाणी की चरितार्थता मानता है ? नहीं, कभी नहीं। संस्कृति तथा जनजागरण का अग्रदूत संस्कृत–कवि तात्त्विक रूप से जीवन के अन्तस्तल को परखता है और उसका सच्चा वर्णन प्रस्तुत करता है, परन्तु जीवन का मंगलमय पर्यवसान तथा कल्याणमय उद्देश्य होने के कारण वह दु:खपर्यवसायी काव्यों तथा नाटकों की रचना से सर्वदा पराङ्मुख होता है। संस्कृत साहित्य का यही मौलिक वैशिष्ट्य है। इसी वैशिष्ट्य के कारण हीं संस्कृत भाषा महनीय और सम्माननीय है।

साहित्यिक दृष्टि से 'दशकुमार–चरित' एक श्लाघनीय रचना है। यह आख्यान काव्य उज्ज्वल दृष्टान्त है जिसके पात्र जीते–जागते जगत् के प्राणी हैं और जिनका चित्रण शिष्ट हास्य तथा मधुर व्यंग्य का आश्रय लेकर प्रस्तुत किया गया है। कथानक में पारस्परिक मनोरम सामंजस्य है। वर्णन की स्वल्पता न तो कथानक के प्रवाह को रोकती है और न अवान्तर कथाएँ मुख्य कथा में किसी प्रकार का अवरोध खड़ा करती है। दण्डी की गद्यशैली बड़ी ही सुबोध, सरल तथा प्रवाहमयी है। उनका गद्य न तो श्लेष के बोझ से कहीं दबा हुआ है और

न कहीं समास के प्रहार से प्रताड़ित है। उनका गद्य दिन–प्रतिदिन के व्यवहार–योग्य सजीव और चुस्त है। उसकी प्रासादिकता दण्डी की निजी विशेषता है। ये अपनी भाषा को अलंकारों के आडम्बर से सदा बचाते हैं। इसलिए इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण, मँजी हुई और मुहावरेदार है। सौबन्धव गद्य के समान न तो यह प्रत्यक्षर–श्लेषमय है और न बाणीय गद्य के सदृश यह समासों से लदी हुई तथा गाढ़बन्धता से मण्डित है। तथ्य यह है कि गद्य के इतिहास में दण्डी का अपना निजी मार्ग है।

दशकुमारचरितम् में वर्णित यात्रा, कथा, प्रभावोत्पादकता आदि मानव को व्याह्लादित करने वाली हैं। यहाँ पर वर्णित स्त्री चरित्र अपने आप में विशेष महत्व रखता है। कुलटा स्त्री एक तपस्वी को किस प्रकार से छलती है इसका मार्मिक चित्र वर्णित किया गया है। राजकुमार राजवाहन के दिग्विजय यात्रा में उसके साथी जब बिछुड़ जाते हैं, तब वह स्वयं उनके बिना उद्विग्न हो उठता है। कालान्तर में सच्ची भावना होने के कारण ही सभी का मिलन हो जाता है। सभी स्व–स्व कार्य में संलग्न होकर मंगलमय जीवन यापन करने लगे। समाज के शोभनपक्ष की अपेक्षा अशोभन पक्ष का भी रम्य चित्र प्रस्तुत कर दण्डी ने अपने चित्रण में जान फूँक दी है। दम्भी तपस्वी, कपटी ब्राह्मण तथा छली वेश्याओं का चित्रण इतनी रुचिरता तथा यथार्थता के साथ किया गया है कि उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पाठकों के हृदय पर पड़ती है। 'अपहारवर्मा' के प्रसंग में 'काममंजरी' नामक वेश्या मरीचि नामक तापस को कितनी विदग्धता तथा बहादुरी से ठगती है यह देखने का विषय है।

इस कथा में दण्डी ने तापसों के दम्भ तथा अभिमान पर खूब ही फबतियाँ कसी हैं। नारी–हृदय की परख दण्डी को खूब ही थी। कहीं पतिवंचक क्रूरहृदया नारी का जघन्य चित्रण है, तो कहीं पतिप्राणा पतिव्रता के कोमल हृदय की मनोरम झाँकी है। 'धूमिनी' स्त्री–हृदय की क्रूरता का जघन्य प्रतीक है, तो 'गोमिनी' पतिप्राणा सती गेहिनी की उज्ज्वल मूर्ति है। धूमिनी

जैसे क्रूरहृदया नारी के चित्रण के लिए आलोचक दण्डी का सर्वदा ऋणी रहेगा। आचार्य दण्डी के दशकुमारचिरतम् में सामाजिक और आर्थिक उभयपक्ष सुदृढ़ दिखाई देता है। इस काव्य की भित्ति पर जो चित्र उकेरे गये हैं, वे सभी हृदयावर्जक है। यदि मानव उनका अनुकरण एवं अनुसरण करें तो मंगलमय जीवन जीने में कहीं भी कोई दुरुहता नहीं होगी। इसी कामना के साथ – **इत्यलम्।**



सहायक एवं संदर्भ ग्रन्थ-सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/ग्रन्थकार
1.	ऐतरेय ब्राह्मण	अपौरुषेय
2.	यजुर्वेद	अपौरुषेय
3.	ऋग्वेद	अपौरुषेय
4.	कादम्बरी	बाणभट्ट
5.	काव्य प्रकाश	आचार्य मम्मट
6.	काव्यादर्श	आचार्य दण्डी
7.	काव्यालङ्कार सूत्र	आचार्य वामन
8.	केनोपनिषद्	अपौरुषेय
9.	मृच्छकटिकम्	महाकवि शूद्रक
10.	मालविकाग्निमित्रम्	महाकवि कालिदास
11.	मालती माधव	आचार्य भवभूति
12.	मालतीमाधवम्	महाकवि भवभूति
13.	मुकुटताडितक	सुबन्धु
14.	मेघदूतम्	महाकवि कालिदास
15.	मनुस्मृति	आचार्य मनु
16.	विष्णुस्मृति	अपौरुषेय
17.	विक्रमोर्वशीयम्	महाकवि कालिदास

18.	हर्षचरितम्	बाणभट्ट
19.	पारस्करगृह्य सूत्र	अपौरुषेय
20.	पस्पशाह्निक	महर्षि पतञ्जलि
21.	प्रतापरुद्रीय	आचार्य भामह
22.	श्रीमद्भागवत महापुराण	महर्षि व्यास
23.	रीति काव्य की भूमिका	डॉ. नगेन्द्र
24.	शांखायन ब्राह्मण	अपौरुषेय
25.	शुक्ल यजुर्वेद	अपौरुषेय
26.	शतपथ ब्राह्मण	अपौरुषेय
27.	संस्कृत साहित्य का इतिहास	आचार्य बल्देव उपाध्याय
28.	संस्कृत साहित्य का इतिहास	आचार्य वाचस्पति गैरोला
29.	संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास	डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी
30.	सरस्वती कण्ठाभरण	आचार्य सरस्वती जी
31.	सायणभाष्य	आचार्य सायण
32.	सामवेद	अपौरुषेय
33.	साहित्यदपर्ण	आचार्य विश्वनाथ
34.	दशकुमारचरितम्	महाकवि दण्डी

35.	छान्दोग्योपनिषद्	अपौरुषेय
36.	वासवदत्ता	महाकवि भास
37.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	अपौरुषेय
38.	नारदस्मृति	आचार्य नारद
39.	अष्टाध्यायी	आचार्य पाणिनि
40.	अभिज्ञानशाकुन्तलम्	महाकवि कालिदास
41.	अथर्ववेद	अपौरुषेय
42.	गोपथ ब्राह्मण	अपौरुषेय

******